सिद्धयोग

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

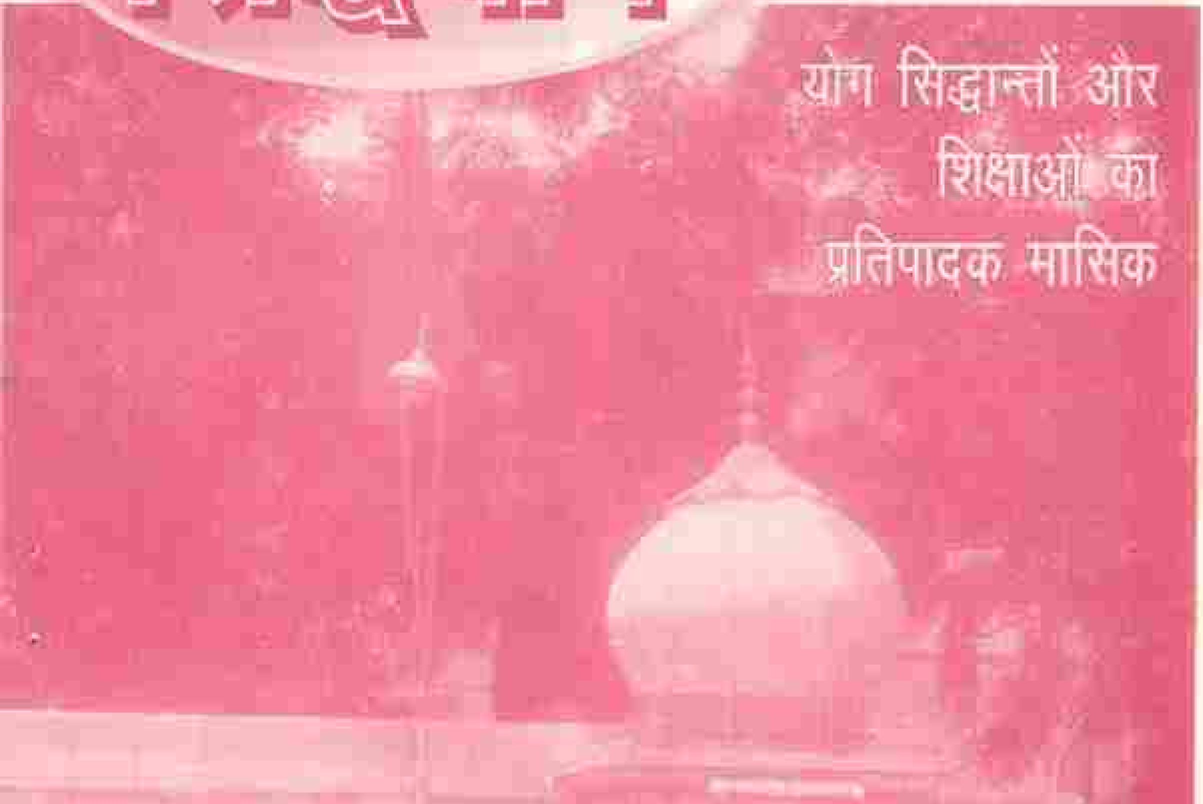

योग सिद्धान्तों और
शिक्षाओं का
प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 35
अंक : 9
दिसम्बर 2002

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
संवाई (आगरा) - 283 202 (उ.प्र.)

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार
मण्डलों के अध्यक्ष
एवं
गुरु भाई-बहिन

एक प्रति	रु०	9-00
वार्षिक शुल्क	रु०	90-00
द्विवार्षिक	रु०	170-00
आजीवन	रु०	800-00

इस अंक में

- अमृत कण 2
- योग साधना का लक्ष्य
  (विशेष लेख) 3
- सम्पादकीय 8
- जीवन क्या है ?
  डॉ० ऋषिराम शर्मा 10
- विनय
  भूपेन्द्र 'अंकुश' 15
- माया और अहंकार 16
- गुरुदेव जन्मोत्सव 21
- भाव प्रसून
  श्रीमती सरिता भारद्वाज 22
- मोहन महल
  लाला मोतीराम 23
- निराश लोगों में आशा के संचारक हैं, प्रभुजी !
  मुनीष 'सत्य प्रकाश' गुप्ता 24
- भजन
  बृजेन्द्र स्वरूप द्विवेदी 32
- संस्कार शक्ति व साधना-शक्ति (भाग-३)
  कु० रुक्मिणी वर्मा 33
- निष्काम कर्म
  स्वामी विवेकानन्द 40

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 35
अंक 9

दिसम्बर
2002

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखविवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं पठतु विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः

एस ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१६

भावार्थ

निश्चय ही यह परमदेव परमात्मा समस्त दिशाओं और अवान्तर दिशाओं में व्याप्त है। वही प्रसिद्ध परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था। वही समस्त ब्रह्माण्ड रूप गर्भ में अन्तर्यामी रूप से स्थित है, वही इस समय जगत् के रूप में प्रकट है और वही भविष्य में भी प्रकट होने वाला है। वह सब जीवों के भीतर स्थित है और सब ओर मुख वाला है।

अमृत कण

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

श्रीमद्भगवद्गीता ७/१९

अनेक जन्म–जन्मान्तर के पश्चात् जिसे सचमुच ज्ञान होता है, वह मुझको समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

* * *

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्।।
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद ३/१४–१५)

वह परम पुरुष हजारों सिर वाला, हजारों आँखों वाला और हजारों पैर वाला है। वह समस्त जगत् को सब ओर से घेरकर नाभि से दस अंगुल ऊपर (हृदय में) स्थित है।

जो अब से पहले हो चुका है, जो भविष्य में होने वाला है और जो खाद्य पदार्थों से इस समय बढ़ रहा है, वह समस्त जगत परमपुरुष परमात्मा ही है और वही अमृतस्वरूप मोक्ष का स्वामी है।

* * *

न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसित्या चक्षते।
प्राण इति एवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति।।

जीव के शरीर की न तो बोलने की शक्ति, न देखने की शक्ति, न सुनने की शक्ति, न सोचने की शक्ति ही प्रधान है, समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु तो यह जीवन (प्राण) है।

☐ विशेष लेख

योग साधना का लक्ष्य

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग शास्त्र के ग्रन्थों में योग साधना का लक्ष्य बड़ा सूक्ष्म और गहरा बताया गया है। वहाँ योग–साधना का लक्ष्य 'पुरुष–प्रकृति–विवेक' है। **'सत्व-पुरुषयोशुद्धि साम्ये कैवल्यम्'** अर्थात् जहाँ पर प्रकृति पुरुष का शुद्धि साम्य हो जाये, पुरुष (आत्मा) अपने स्वरुप में अवस्थित हो जाये और बुद्धि अपने कारण मूल प्रकृति में लय हो जाये, उसे शुद्धि साम्य कहते हैं। यही 'कैवल्य' कहलाता है। कैवली भाव अर्थात् अकेलापन (परम एकांत)। मैंने बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध बताया था। आत्मा निर्मल ज्योति है, बुद्धि जड है आत्मा के सामने बुद्धि आई। आत्मा की चेतनता बुद्धि पर पड़ी और बुद्धि ने अपना रूप आत्मा को दिखा दिया। इससे आत्मा बुद्धि बोधात्मा अथवा प्रत्ययानुपश्य बन गया। उदाहरण देकर मैंने समझाने का प्रयत्न किया था, जैसे कि निर्मल ज्योति के सामने लाल शीशा आ जाये ज्योति लाल दिखाई देती है, पीला शीशा आ जाये ज्योति पीली दिखाई देती है। जड और चेतन की गाँठ। प्रत्ययानुपश्य को खत्म करना ही योग दर्शन का लक्ष्य है। निर्बीज समाधि के अन्दर द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में रहा करता है **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** निर्बीज समाधि में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। वह स्वरुप प्रतिष्ठा कैसे होती है ? इसका उत्तर जैसा कि चितृशक्ति का केवल्य में रहना। भगवान ने गीता में आत्मा के स्वरूप को बताया है।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।'

यह अच्छेद्य है, अर्थात् इसको काटा नहीं जा सकता अदाह्योऽयम् 'इसे जलाया नहीं जा सकता अक्लेद्यो' इसे जल गीला नहीं कर सकता, अशोष्यः' इसे वायु सुखा नहीं सकती। यह आत्मा नित्य है, सर्वव्यापी है, एक जैसे रहने वाला है, अचल और सनातन है । समाधि के अतिरिक्त अर्थात् व्युत्थान काल में आत्मा **'वृत्ति सारुप्यमितरत्र'** के अनुसार वृत्ति सारुप्य अवस्था को प्राप्त हो जाती है। **'सदृशम् चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** ज्ञानी लोग भी अपने–अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते हैं। सृष्टि में गुण विस्तार के कारण भिन्नता है। भगवान राम का स्वभाव दूसरे प्रकार का है, भगवान कृष्ण का स्वभाव दूसरे प्रकार का है, भगवान शिव का स्वभाव कुछ और प्रकार का है। दुर्वासा ऋषि का स्वभाव कुछ और प्रकार का है–उनका क्रोधी होना प्रख्यात है। ये सब उनका आत्मिक विकार नहीं है, बुद्धि के धर्म है जिसमें

वर और शाप दिया करते हैं। यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। मैंने तुम्हें चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ कई बार समझाई है। इनमें सबसे पहले 'मूढ़ावस्था' वाले प्राणी होते हैं। ये तमोगुण प्रधान प्राणी होते हैं। मनुष्य में ऐसे प्राणी दूसरों को कष्ट देते हैं लड़ाई झगड़ा करते हैं, अथवा प्रमादालस्य एवं निद्रा में ही पड़े रहते हैं। दूसरे होते हैं **'क्षिप्तावस्था'** के प्राणी ऐसे प्राणियों का चित्त पूर्णतया रजोगुण से व्याप्त रहता है। इनकी भी पारमार्थिक प्रकृति नहीं होती है। इन लोगों का ईश्वर में, सिद्धों में, लोक परलोक में विश्वास नहीं होता। **'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतम् पिबेत्'** का इनका सिद्धान्त होता है। इन्द्रिय सुख में लगे रहते हैं अन्याय से बने अथवा किसी की हत्या करके भी धन मिलता हो तो उस में भी ऐसे लोग पीछे नहीं रहते। तीसरी भूमि के प्राणी 'विक्षिप्तावस्था' के होते हैं। **''क्षिप्ता विशिष्टम् विक्षिप्तम्''** क्षिप्तावस्था से जो श्रेष्ठ होते हैं वे विक्षिप्तावस्था वाले होते हैं। इनमें सतोगुण प्रधान रहता है, रजोगुण तथा तमोगुण गौण रहा करते हैं। सतोगुण प्रधान होने से इस श्रेणी के प्राणी श्रद्धालु हुआ करते हैं। **'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः'** अर्थात् चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है। श्रद्धा योगी की माँ की तरह रक्षा करती है। श्रद्धा के उदय होने पर सतोगुण का विकास होगा। धीरे-धीरे उसमें दैवी सम्पत्ति आ जावेगी भगवान् ने गीता में दैवी सम्पत्ति का फल बताया है। **'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** अर्थात् दैवी सम्पत्ति मुक्ति का कारण बन जाती है।

विक्षिप्तावस्था वाले मनुष्यों में श्रद्धा होती है, इस कारण से परमार्थ में उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। चौथी श्रेणी के लोग **'एकाग्रावस्था'** वाले होते हैं। इनमें सतोगुण का पूरा-पूरा विकास हो जाता है। यहीं से योग प्रारम्भ होता है इससे पहले की तीन अवस्थाओं में योग नहीं माना गया। इस अवस्था के उदय होने पर मनुष्य अन्तर्मुखी बन जाता है। रुहानी दृश्य सामने आते हैं। **'ईशाद्याः सकलाः देवाः दृश्यन्ते परमात्मनि'** अर्थात् उस परम तेज ईश्वर के अन्दर सभी देवी देवता दिखाई दिया करते हैं। इससे आगे निरोधावस्था आती है। इसमें योगी की निर्बीज समाधि होती है। निर्बीज में माया का बीज समाप्त हो जाता है। तब योगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। मैंने तुम्हें पिछले व्याख्यानों में यह भली प्रकार से समझाया था कि योगी दो प्रकार के होते हैं। **'भव प्रत्यय'** वाले तथा दूसरे **'उपाय प्रत्यय'** वाले। **''भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्''** अर्थात् विदेह कोटि के देवता तथा प्रकृति लीन योगियों को भव प्रत्यय होता है। भव प्रत्यय वाले को जन्म से ही योग की प्रतीति होती है। भव प्रत्यय वाले यह समझते हैं कि हमें कैवल्य की प्राप्ति हो गई है। **'कैवल्य पदमिव अनुभवन्तः'** अर्थात् कैवल्य पद का अनुभव सा करते हैं। किन्तु उन्हें अभी कैवल्य प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक उनके पास अनुभव करने वाला मन और बुद्धि रहते हैं। अतः चित्त अधिकार अर्थात् बीज वाला है। अधिकार में पुनरावर्तन हुआ करता है। विदेह देवता देह धर्म से आगे हो गये होते हैं ये ब्रह्मलोक के जीव हुआ करते हैं। उनको [illegible] से ही ज्ञानेन्द्रियाँ हो जाती हैं। **'जिघ्रन नासिका**

भवति' यदि वे सूँघना चाहें तो नासिका अपने आप हो जाती है। पश्यन् चक्षुर्भवति अर्थात् देखना चाहें तो आँखे ही आँखे हो जाती हैं। 'स्पर्शन्त्वग् भवति' यदि किसी को छूना चाहें तो त्वक् हो जाती है अर्थात् दूर दर्शन दूर श्रवण की योग्यता इनमें स्वाभाविक हुआ करती है। संकल्प से ही आँख, कान, नासिका आदि हो जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। भगवान ने गीता में योगियों के लिये साधना क्रम अथवा कोर्स इस प्रकार बताया है।

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यो परंमनः।
मनसस्तु पराबुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः।।"

अर्थात् पहले योगी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे इसके पश्चात् मन का साक्षात्कार करे, फिर बुद्धि का साक्षात्कार करे और बुद्धि से परे उस आत्मा का साक्षात्कार करे। इन्द्रियाँ हमारी पूरी शक्ति वाली नहीं हैं। वस्तुतः तो इनका दायरा बहुत ज्यादा नहीं है। लेकिन, योग–साधना से ही इसके दायरे को विस्तृत बनाया जाता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ कहाँ से उत्पन्न हुईं, इसे जानो। देखो! घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गंध तन्मात्र से है। 'तत्र गन्धवती पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी में गन्ध है जब योगी साधना से घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार करेगा तो जहाँ–जहाँ तक पृथ्वी का विस्तार है, जहाँ–जहाँ तक गन्ध तन्मात्र है वहाँ तक के सुगन्ध या दुर्गन्ध को योगी ग्रहण कर ले, तब समझ लेना चाहिये कि घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार हो गया। साधारण मनुष्य जीभ से खट्टे–मीठे स्वाद का ही अनुभव करता है। किन्तु, साधना से जब हम रसनेन्द्रिय का साक्षात्कार करेंगे, तो जहाँ तक जल है, क्योंकि जीभ की उत्पत्ति जल से है, चाहे वह व्यक्त रूप में हो अथवा अव्यक्त रूप में, वहाँ तक के सारे रस का साक्षात्कार हो जायेगा। इसी प्रकार आँखों का सम्बन्ध अग्नि से है। रूप तन्मात्र अग्नि का कारण है। अग्नि जहाँ तक है वहाँ तक आँखों से देख सकता है। तुम यह जानते हो कि अग्नि सब जगह है, जल में भी अग्नि है पत्थर में, दीवार में अग्नि सर्वत्र विद्यमान है। जब योगी नेत्रेन्द्रिय का साक्षात्कार कर लेता है तो उसे हजारों मील दूर की वस्तु दिखाई दे जाती है अथवा जहाँ तक अग्नि का दायरा है वहाँ तक सभी कुछ देख लिया करता है। इसी प्रकार से त्वग् से दिव्य स्पर्श का अनुभव करता है। शब्द तन्मात्र कर्णेन्द्रिय का विषय है। आकाश जहाँ तक है। ब्रह्माण्ड में जितने भी शब्द है, उन शब्दों को, कर्णेन्द्रिय के साक्षात्कार हो जाने पर सुन सकते हैं। मैं अपने एक गुरु भाई को जानता हूँ, जिन्होंने ऋषिकेश में बैठे–बैठे ही बरसाने में हो रही घटना को देख लिया था और दण्ड भी दिया था। श्री प्रभु जी के चरणों में ऐसे अलौकिक चरित्र हम लोग दिन–रात देखा करते थे। उनके कई बच्चों में भी ऊँची–ऊँची स्थिति वाले व सामर्थ्यवाले थे। अखिलात्मा भगवान ने गीता में युक्त योगी के लक्षण बताएँ हैं–

"ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः।।"

ज्ञान तृप्तात्मा वह होता है, जिसने प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर प्रकृति पर

हुकूमत प्राप्त कर ली हो और विज्ञानतृप्तात्मा वह होता है जिसने पूर्ण रूप से आत्म साक्षात्कार कर लिया हो वह विज्ञानतृप्तात्मा कहलाता है। मिट्टी पत्थर सोना जिसके लिये समान है, वह युक्त योगी कहा गया है आनन्द कन्द श्री प्रभु जी नैपाल हिमालय से आकर अपने ध्यानी बच्चों को, ध्यान में बैठाया करते थे। उनका पहला काम था कि ध्यान में पहले भूमण्डल के सारे दृश्यों को दिखाया करते थे, पाँच भौतिक दृश्य–आग्नेय समुद्र आदि–आदि दिखाने के साथ–साथ गन्धर्व पितर–स्वर्गादि लोकों को दिखाते थे। तत्पश्चात् उनमें से निकाल कर उसे आत्मदर्शन की ओर ले जाया करते थे। यह प्रभु जी का ध्यान अभ्यास कराने का क्रम था। हमारे भी ध्यानाभ्यासी बच्चे ऐसे हुये हैं। मैं तुम्हें रमण गिरी साधु के विषय में बताया करता हूँ। वह सन्यासी था। हमारे पास आकर योग दीक्षा ली। भगवान शंकर की आराधना पहले करता था। श्री प्रभुजी की कृपा से ध्यान स्थिति ऊँची बढ़ गई। वह भी लोक लोकान्तर में जाया करता था। स्वर्ग में इन्द्र सभा में जाया करता था। हमारे आश्रम में आने जाने वाले साधकों में ही एक नत्थू राम काका थे। अच्छे साधक थे वह भी। एक बार राम लीला के दिनों में नत्थू राम ने उस महात्मा से कहा–चलो नागे ! तुम्हें राम लीला दिखाकर लायें। महात्मा कहने लगा–काका जी ! तुम राम लीला देखने जाओ और मैं तुम्हें यहीं से देखूँगा। तुम क्या–क्या करते हो और कहाँ जाते हो ? ऐसा कह कर वह ध्यान में बैठ गया और सूक्ष्म शरीर से उसके साथ हो लिया। सारा दृश्य देखता रहा। जब नत्थू राम वापिस लौटे तो रमणी गिरी कहने लगा–काका जी बताऊँ आश्रम से जाने के बाद तुम कहाँ–कहाँ गये और क्या–क्या किया। उन्होंने कहा 'बता ! हमने क्या–क्या किया।' महात्मा ने कहा–सबसे पहले आश्रम से बाहर निकलने के बाद तुमने एक बीड़ी पी। उसके पश्चात् रास्ते में एक जगह पर ठन्डाई भांग की बन रही थी, एक गिलास पी। उससे आगे तुम्हें ठा. घमण्डी सिंह मिल गया, तुम उसके साथ–साथ बाजार गये। आपस में मजाक करते हुये जा रहे थे। उसके बाद एलादपुर पहुँच कर रामलीला देखने लगे। तुम्हें भीड़ के कारण खड़े होने को जगह नहीं मिल रही थी, इसलिये तुम ला. भगवान दास की दुकान पर चढ़ गये। राम लक्ष्मण की बारात निकल रही थी। इसमें लक्ष्मण जी नीलवर्ण के थे और राम जी गौर–वर्ण के थे। इस तरह से राम की बारात देखने के बाद तुम फिर वापिस आये ! आश्रम से दूर डोरे (सीमा) के पास तुमने बीड़ी पीकर लघुशंका की और इस तरह से आश्रम वापिस आ रहे हो। नत्थू राम ने मान ली कि वास्तव में बात ज्यों की ज्यों सत्य है। वह साधु स्वर्ग के दृश्यों को देखने लगा था। मैंने तुम्हें पहले भी बताया हुआ है कि जब योगी सम्प्रज्ञात की दूसरी श्रेणी में पहुँचता है, तब उसके मार्ग में देवता अन्तराय पैदा कर दिया करते हैं, तब उसे भ्रान्ति दर्शन होने लगता है। उसके साथ भी यही हुआ, देवताओं ने उससे कहा तुम वृन्दावन में कुसुम सरोवर पर आ जाना, वहाँ तुम्हें यह देव कन्या मिलेगी।' वह चुपचाप आश्रम से बिना किसी को बताये वृन्दावन चला गया, वहाँ तीन दिन व तीन रात तक भूखा प्यासा पड़ा

रहा। किन्तु कहीं देव कन्या नहीं आयी। हाँ वहीं की किसी लड़की से सम्पर्क हो गया और भ्रष्ट हो गया। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि उत्थान तो होता है, किन्तु साधक सङ्गदोष से बचा रहे। **'निर्मानमोह जित सङ्गदोषाः'** यह भगवान का साधक के लिये संकेत है। यदि साधक जितेन्द्रिय नहीं है, तो शक्ति उसका साथ छोड़ देती है। शरीर में वीर्य ही ब्रह्म है। ब्रह्मचर्य का फल योग दर्शन में लिखा है कि ब्रह्मचारी **विनयेषु शक्तिमाधातुं समर्थो भवति** अर्थात् एक ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्तिपात कर सकता है। किन्तु जो इन्द्रियलोलुप हैं, वह शक्ति पात नहीं कर सकता। अस्तु। मैं तुम्हें भव प्रत्यय वाले योगियों के विषय में बता रहा था। विदेह देवता और प्रकृतिलीन योगी पुनः जन्म लेकर भव प्रत्यय की श्रेणी में आता है। प्रकृतिलीन वे होते हैं जो गन्धतन्मात्र में लय हो जाते हैं, रूप तन्मात्र में लय हो जाते हैं, रस तन्मात्र में लय हो जाये या बुद्धि के सात्विक महा भावों में लय हो जायें यह भी प्रकृतिलयता है। वह बुद्धि के धर्मों में लय हो जाता है। अपने इष्टदेव को सर्वत्र देखता है। अन्त में समझ लेता है। **'प्राप्तं प्रापणीयं, छिन्नःश्लिष्टपर्वः भव संक्रमः'** अर्थात् जो प्राप्त करनी चाहिये वह मैंने प्राप्त कर लिया है पीढ़ी दर पीढ़ी स्थित इस जन्म चक्र को मैंने काट दिया है। किन्तु योगियों में एक विशेष बात यह होती है कि वह किसी से कुछ माँगते नहीं हैं। वे लोग अपने अन्दर शक्ति पैदा करते हैं, जिनसे वरदान व शक्ति लेते हैं यह भी योगी ही होते हैं। साधना करते–करते ये लोग भी शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। सिद्धता को प्राप्त हो जायेंगे। 'ईश्वर' को महासिद्ध कहा जाता है। वह अनादिसिद्ध है। क्लेश कर्म विपाक एवं आशय के चक्कर में जो कभी आया ही नहीं, उसे ईश्वर कहते हैं। दूसरे योगी भी साधना करते–करते क्लेश कर्म से छूट जाते हैं। निर्बीज समाधि तभी होगी जब वे क्लेश बन्धन से पूर्ण रूप से छूट जायेंगे। योगी क्लेश बंधन से छूटने के लिये ही सारा पुरुषार्थ करता है। योग ही ऐसी विद्या है जिसके जान लेने पर सभी कुछ जाना जा सकता है।

'यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातंभवति'

सर्वज्ञता एवं सर्वव्यापकता योग से ही सम्भव है। इसलिये तुम सब अपने आप को योग ध्यान परायण बनाओ। जब तक शरीर में रजोगुण, तमोगुण रहेगा तब तक मृत्यु के समय प्राण का घर्षण होगा ही होगा। उसे घर्षण के दुःख में न कृष्ण चन्द्र याद आयेंगे, न कोई और याद रहता है। उस समय प्राणों के घर्षण के समय शुभ चिन्तन नहीं होगा। **अशुभ चिन्तन से 'अधो गच्छन्ति तामसाः'** के अनुसार निम्न योनियों में प्राणी चला जाता है। किन्तु जो ध्यानयोगी हैं उनमें सतोगुण की वृद्धि हो जाने के कारण, शुभ्र प्रकाश में शरीर छोड़ते हैं, सदगति को पाते हैं इसलिये अपने को योग ध्यान परायण बनाओ। जो इस मार्ग में बढ़ेंगे, वे सर्व शक्तिमान उनकी अवश्य सहायता करेंगे। बार–बार आशीर्वाद।

***

हम और हमारा आश्रम

आचार्य (डा०) दासलाल शर्मा

श्री सिद्ध गुफा सवांई धाम में एक योग सिद्ध पीठ के रूप में ख्यात और प्रतिष्ठित योग प्रशिक्षण केन्द्र विद्यमान है। यह सिद्धपीठ योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज एवं उनके गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज से सेवित सिद्ध भूमि है। महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ने योग जगत एवं भक्तों को कितना उपकृत किया है यह तथ्य किसी से छिपा नही है। प्रभु रामलाल जी महाराज १६११ के आस–पास श्री सिद्धगुफा सवांई धाम में दो तीन वर्ष तक विराजमान रहे। यहाँ रहते हुये उन्होंने भक्तों को अपने दिव्य विभूतियों और योग लीलाओं का दर्शन कराया। उनका सदा लक्ष्य यही रहा कि मनुष्य जीवन में योग की महत्ता और उपयोगिता को समझे और अपने को दुःखों से पार ले जावे। इसलिये उन्होंने सिद्धयोग के द्वारा अधिकारियों पर शक्तिपात करके उन्हें सच्चे अर्थों में योगारुढ़ बना दिया है। वस्तुतः योग मार्ग ही ऐसा मार्ग है। जिसमें साधक को आध्यात्मानुभूतियाँ हो सकती हैं। जब तक साधक अन्तर्मुखी होकर समाधि की भूमिकाओं में प्रवेश नहीं पा जाता है। तब तक वह संशयात्मा ही रहा करता है। योग शास्त्र साधक को अपरोक्ष अनुभूति कराकर सत्य का दर्शन कराता है। श्रद्धा विश्वास योग मार्ग के प्रथम दृढ़ सोपान है। अन्तरानुमति के ये ही कारण बनते हैं। गुरु चरणों में दृढ़ विश्वास होना योगी के जीवन का परमावश्यक तत्व है। परम श्रद्धेय गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने साधकों को अनुभूति युक्त जीवन जीना सिखाया है। दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर ही भगवान की उक्ति चरितार्थ होती है।

'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्'।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः।

अर्थात्–जीवात्मा किस प्रकार से एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में जाता है, किस प्रकार से विषयों का भोग करता है इस बात को अज्ञानी विमूढ नहीं जानते किन्तु ज्ञानचक्षु सम्पन्न योगी योगकला से जान लेता है। योग के अभ्यास से साधक का मन, तन, शरीर सब प्रकाश से भर जाता है। सत्व के उत्कर्ष हो जाने पर रोम–रोम से प्रकाश निकलने लगता है। **'सर्व द्वारेषु देहे अस्मिन् प्रकाश उपजायते'**। पूर्ण गुरुदेव के चरणों में पूर्ण समर्पित रहने वाले साधकों में सत्वोत्कर्ष स्वतः ही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार के सत्वोत्कर्ष में गुरुदेव की कृपा ही कारण बनती है। गुरुदेव की कृपा से ही साधकों में ऋतम्भरा प्रज्ञा, दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि सिद्धियाँ स्वतः रहा करती हैं। गुरुदेव की कृपा से उनके अनेक बालकों में इस

प्रकार की विभूतियाँ प्रकट रही हैं। श्री गुरुदेव भगवान ने श्री सिद्धगुफा सवांई में बहुत काल तक निवास किया। उनके दिव्य तेज से समस्त प्रदेश पवित्र हुआ।

यस्मिन् देशे वसेत् योगी ध्यान योग विचक्षणः।
सोऽपि देशे भवेत् पूतः किं पुनस्तस्यबांधवाः।।

अर्थात्—जिस देश में योगी वास करता है वह देश का देश पवित्र हो जाता है। आनन्दकन्द श्री प्रभु जी ने इस युग में प्रकट होकर योग गंगा को प्रवाहित किया है। उनकी विभूतियों को देखकर व जानकर ही संसार उनके सम्मुख नतमस्तक होता है। इस प्रकार से व्यक्ति स्वयं को इस दिव्यता की ओर उन्मुख कर लेता है। उनकी परम्परा से जुड़कर साधक योग साधना में आरूढ़ होकर स्वयं को तार कर औरों को भी तारने वाला बन जाता है। क्लेश निवृत्ति का उपाय योग ही है। प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को दुःखों से निवृत्ति का उपाय ढूँढ़ना चाहियें। वह उपाय योग ही है। भवरोग की परम औषधि योग ही है। श्री गुरुदेव का यह सिद्धपीठ योग परम्परा का अक्षुण्ण केन्द्र बना हुआ है। यहाँ से अनेकों साधक योग के आचार्य बनकर समाज को योग से जोड़ते रहेंगे। आचार्य बन्धुओं को भी इसे अपना गुरुधाम जानकर विनीत भाव से यहाँ रहना आना चाहिये। आश्रम द्वार के बाहर कोई व्यक्ति पूज्य हो सकता है किन्तु गुरुधाम में उसे पूज्यता या मानित्व का भाव नहीं रखना चाहिये। गुरुधाम में शिष्यत्व का भाव रखना ही साधक के लिये श्रेयस्कर है। सिद्धयोग की परम्परा में गुरुदेव की कृपा ही सर्वोपरि है।

"नाद्वैतं भावयेत् गुरुणा सह कर्हिचित्" गुरुदेव के साथ कभी अद्वैत भाव नहीं रखना चाहिये। **'गुरुलोपों न कर्तव्यः स्वच्छन्दो यदि भावयेत्'** यदि साधक को स्वछन्द होना हो तो वह गुरुदेव को कभी लोप न करे।

***

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।

—श्री मद्भगवद् गीता ३/२५

भावार्थ—जिस प्रकार अज्ञानी जन फल की आसक्ति से कार्य करते हैं, उसी तरह विद्वान जनों को चाहिये कि लोगों को उचित पथ पर ले जाने के लिए अनासक्त रह कर कार्य करें।

जीवन क्या है ?

–डॉ० ऋषिराम शर्मा

प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है, शरीर से भोग भोगता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। जन्म से पहले वह अदृश्य था और मृत्यु के पश्चात् भी अदृश्य था और मृत्यु के पश्चात् भी अदृश्य हो जाता है। केवल भोगकाल में प्रत्यक्ष रहता है, यही जीवन है। किन्तु इस घटनाक्रम की पीछे कोई कारण तो अवश्य होगा, क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। प्रत्यक्षकाल में भी सभी के भोग पृथक्–पृथक् हैं। इस प्रथकता का भी कोई कारण होना चाहिए। सबसे बड़ी समस्या यह है कि कार्य अपने कारण का आवरण बनकर उसे छिपा लेता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई रूई की शर्ट पहना हुआ है और उससे रूई मांगी जाती है तब वह यही कहता है कि मेरे पास रूई नहीं है। तात्पर्य यही है कि जब कारण कार्यरूप में परिवर्तित हो जाता है तो कारण दिखाई नहीं देता। इसलिए हमें इस जीवन के कारण का गुरुदेव की कृपा से तथा शास्त्रों के श्रवण–मनन से पता लगाना होगा। मेरे गुरुदेव ने संस्कार के रूप में जो मुझे अमूल्य निधि दी है उसका कुछ अंश मैं अपने परमप्रिय भाईयों तथा बहिनों में बाँटना चाहता हूँ। अतः प्रयास करूँगा कि मैं कोई न कोई प्रसंग आपके सम्मुख रखता रहूँ। इस समय मेरे जीवन में अनोखी हलचल है। अब से ४४ वर्ष पूर्व १६५८ में एक घटना घटी जो अब प्रकाश में आ रही है। उस समय मैं एक ब्रह्मचारी के रूप में गुरुदेव के चरणों में सवाई आश्रम में था। गुरुजी भोजन के लिए झोंपड़ी वाली रसोई में जा रहे थे। मुझे इशारे से बुलाया और अपनी कमर से चिपटाकर मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए थे और मेरे हाथों से अपने पेट का तबला बजाने लगे। उस समय उनके मुख से एक धुन निकली जिसमें अपार प्रेम, श्रद्धा तथा भक्ति की गंगा का प्रवाह था। वह धुन थी "महादेव से निराला कोई और नहीं, महादेव से निराला एक और है" इस धुन का प्रत्यक्ष अनुभव जीवन में आने लगा है। समस्त ब्रह्माण्डों में जो भी जीवन है या चर–अचर दृश्य हैं, उन सब के तीन मूलभूत कारण हैं–(१) चैतन्य–तत्व (पुरुष), (२) योगमाया (प्रकृति) (३) ईश्वर (पुरुषोत्तम)। यद्यपि इन कारणों का साक्षात्कार सात प्रान्तभूमिवाली प्रज्ञा के द्वारा ही सम्भव है, जिसको भगवान पतंजलि ने ज्ञानदीप्ति भी कहा है कि–

"योगांगानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः"

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामवाले योग के अंगों का भलीभाँति अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रज्ञाचक्षु की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा इन कारणों का प्रत्यक्षीकरण होता है। भगवान कृष्ण ने इसे स्पष्ट किया है कि–

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभः।।

अर्थात् इस संसार में जड़ तथा चेतन सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की एकात्मतावाला संयोग है। इस संयोग का कारण योगमाया की अविद्या है, क्योंकि अविद्या के अभाव में संयोग का भी अभाव हो जाता है। इसीलिए योग साधना के द्वारा जैसे ही अविद्यारूपी अशुद्धि का नाश होता है, स्वतः ही ज्ञानदीप्ति प्रकट हो जाती है। हम इन तीनों कारणों को महापुरुषों द्वारा अपने अनुभव के आधार पर दिये गये ज्ञान के द्वारा समझने का प्रयास करेंगे।

यह चेतन्यतत्त्व क्या है और हमारे जीवन से इसका क्या सम्बन्ध है ? भगवान कृष्ण ने इसे पराप्रकृति कहा है जो कि इस संसार को धारण किये हुए है और जिसके कारण समस्त शरीरों में चेतनता का आभास होता है। यह चैतन्यतत्त्व शरीर में सर्वव्याप्त होते हुए भी शरीर से भिन्न है, क्योंकि इसके शरीर से निकल जाने पर शरीर मृत घोषित हो जाता है और उसके बाद वह शरीर न तो कोई क्रिया कर पाता है और न अपनी स्थिति रख पाता है। कुछ ही समय में पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या शरीर में क्रियाकलाप करने वाला तथा सुख–दुःख के भोग भोगने वाला ही चैतन्यतत्त्व है। यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि जो दीखता है वह सत्य नहीं है और जो सत्य है वह इन्द्रियों तथा मन की पहुँच के बाहर है। श्रुति में प्रमाण है कि–

परांचिखानि वितृणत् स्वयंभूः।
परान् पश्यन्ति नान्तरात्मन्।।
कश्चित् धीरः प्रत्यकात्मानमैच्छत्।
आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।

अर्थात्–जगत के रचयिता ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया, जो बाह्य जगत का अनुभव तो कर सकती हैं किन्तु अन्तरात्मा को नहीं देख सकती हैं। कोई धैर्यवान पुरुष जब इन्द्रियों के द्वार बन्द कर आत्मदर्शन की इच्छा से अन्तर्मुखी होकर समस्त मनोवृत्तियों का निरोध कर लेता है और सर्वव्यापी कूटस्थ आत्मा का साक्षात्कार यानि अनुभव करता है तब वह अपने शुद्ध चेतनतत्त्व वाले सत्य स्वरूप को पहचान पाता है। महर्षि पतंजलि ने आत्मा के विषय में कहा है कि–

दृष्टा दृशिमात्रो शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः

अर्थात्–सभी शरीरों की मनोवृत्तियों का एकमात्र ज्ञाता आत्मा ही है, जो परम विशुद्ध है, विकाररहित है, निश्चल, निर्दोष तथा निर्लिप्त है, किन्तु दर्शनशक्तियों से एकात्मता होने के कारण चित्तवृत्ति के आकार में ही दिखाई देती है। ठीक उसी तरह जिस तरह श्वेत स्फटिक मणि रंगीन आधार पर रखी होने के कारण रंगीन दिखाई देती है। सभी प्राणियों के शरीरों को यही चेतनतत्त्व प्रकाशित करता है। जगदात्मा भगवान कृष्ण ने इसकी पुष्टि अपने मुखारविन्द से की है कि–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

अर्थात्–जिस प्रकार एक ही सूर्य सूर्य मण्डल के सभी लोगों को प्रकाशित करता है इसी प्रकार एक ही चेतनतत्व समस्त प्राणियों के शरीरों को प्रकाशित कर रहा है। पृथक्–पृथक् शरीरों में प्रकाश की मात्रा भिन्न–भिन्न दिखाई देती है उसका कारण माया के आवरण की भिन्न–भिन्न अवस्था है। जैसे किसी प्रकाशमान् वस्तु को केन्द्र पर रखकर उसके चारों ओर समान केन्द्र वाले किन्तु भिन्न–भिन्न गोलों के सतह पर प्रकाश की मात्रा भी भिन्न–भिन्न दिखाई देती है। इसी प्रकार एक ही विद्युतधारा से लाखों प्रकार की मशीनें भिन्न–भिन्न कार्य करती हैं, उनकी शक्ति भी भिन्न–भिन्न है। फिर भी सब को कार्य दिखाई देता, विद्युतधारा किसी को नहीं दिखाई देती। भगवान कृष्ण की वाणी भी प्रमाण है कि–

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तत् ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।

अर्थात्–एक ही चेतनतत्व समस्त प्राणियों में अविभक्त होते हुए भी अविद्या के प्रभाव के कारण विभक्त सा प्रतीत होता है। प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप समस्त प्राणियों का लालन–पालन, उनके शरीरों का विनाश तथा शरीरों की उत्पत्ति इसी चेतनतत्व तथा प्रकृति के संयोग से परमपुरुष परमात्मा के शासन में होती रहती है। परमात्मा के शासन की एक विशेषता यह है कि वह स्वतः स्वाभाविक रूप से कर्मप्रधान न्याय से संचालित है। भगवान ने स्वयं स्वीकार किया है कि–

स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुम नेच्छति यत् मोहात करिष्ये अवशोऽपि तत्।।
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्ये सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

अर्थात् कर्माशय के भण्डार से जो कर्म फल देने के लिए परिपक्व हो चुके है वह प्रारब्ध संस्कारों के रूप में जीवात्मा का स्वभाव निर्धारित करते हैं और अविद्यावरण में भ्रमित प्राणी अपने ही कर्मबन्धन में फंसा रहता है और न चाहते हुए भी कर्मजाल में फंसता चला जाता है। किन्तु यह बन्धन चेतन्यतत्व यानि आत्मा का नहीं है अपितु मन, बुद्धि तथा अहंकार की वृत्तियों का चेतनतत्व में जो आभास दिखाई देता है उसी में कर्मबन्धन का आभास दिखाई देता है। इसी कारण अविद्यावरण का नाश होते ही यह सब स्वतः ही लुप्त हो जाता है।

हमारे जीवन में दिन–रात की तरह सुख–दुख का घटनाक्रम चलता रहता है। जब सुख का प्रवाह चलता है तो मन में आह्लाद प्रकट हो जाता है और जब दुःख का प्रवाह चलता है तो मन में परिताप प्रकट हो जाता है। विडम्बना यह है कि हम कारण को समझे बिना ही उसके कार्य में परिवर्तन चाहते हैं यानि दुख को हटाकर निरन्तर सुख चाहते हैं, किन्तु यह भूल जाते

है कि जैसे ही पापकर्म का फल उदय होता है, सभी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल बनती हैं और उन परिस्थितियों की दलदल में फंसना अवश्यंभावी घटना है। जो लोग गुरुदेव की शरण में या मायाधीश परमात्मा की शरण में तन तथा मन से आ जाते हैं उन्हें यह अहसास ही नहीं होता कि वह दुःख की दलदल में फंसे हैं, क्योंकि अहसास करने वाला मन तो श्रद्धाभक्ति का अमृतपान करता रहता है और स्वतन्त्र मन के बिना सुख–दुख की अनुभूति हो ही नहीं सकती, क्योंकि–

दुखादयः यो मनसो विकाराः

अर्थात्–दुखादि की अनुभूति इन्द्रियों के वशीभूत मन की विकारमात्र है। जो मन श्रद्धाभक्ति का अमृतपान कर रहा है उसका इन्द्रिय–भोग अपनी ओर आकर्षित कर ही नहीं सकते। समझने की बात यह है कि धर्म तथा धर्मी की पहचान किये बिना इस रहस्य को नहीं समझा जा सकता। जिन मायिक विकारों के वशीभूत हम अपने को पाते हैं वस्तुतः वह शरीर के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं। काम, क्रोध, मद, लोभादि विकार, इच्छा, वासना, अहंकार, सुख के प्रति राग तथा दुःख के प्रति द्वेष, सभी जड़ तथा चेतन जगत की उत्पत्ति तथा विनाश, यह सब प्रकृति के त्रिगुणात्मक विकार हैं। भगवान कृष्ण का कहना है कि–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि अनादि उभौ अपि।
विकारांश्च गुणान् चैव विद्धि प्रकृति संभवान्।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते
पुरुषः सुखदुखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते
पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्
कारणं गुणसंयोऽस्य सदसद्योनि जन्मेसु।।

अर्थात्–प्रकृति तथा चेतनतत्व का अनादि सम्बन्ध है जिस प्रकार अग्नि की दाहकता का अग्नि से सम्बन्ध है। किन्तु जब लोहे को अग्नि में तपाया जाता है तो वह अग्नि का लाल रंग तथा उसकी दाहकता को अपने अन्दर ले लेता है और जब उसका अग्नि से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तो अग्नि के आरोपित धर्म स्वतः लुप्त हो जाते हैं, न उसमें लाल रंग रहता है और न दाहकता। ठीक इसी प्रकार क्षेत्र के धर्म क्षेत्री में दिखाई देते हैं। इसलिए जीवन में सुख–दुखादि समस्त विकार प्रकृति के धर्म हैं जो कि सत्व, रज तथा तम की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं का परिणाम मात्र है। समस्त ब्रह्माण्डों में जो भी घटित होता है, जो चित्तवृत्तियों के रूप में अनुभव मे आता है, वह सब का सब प्रकृति का खेल है। मूलसमस्या यह है कि चित्तवृत्तियों की चेतनतत्व से एकात्मता हो जाने के कारण जीवभाव में पुरुष प्रकृति के धर्मों का भोक्ता बन गया है और यही गुणात्मक संयोग जीवन है। इस गुणात्मक कर्मबन्धन से जीवन में मोक्ष पा जाना ही अपने निर्गुणात्मक चैतन्यस्वरूप को पहचानना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग का विधान बताया है कि–

तपस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः

तप, स्वाध्याय तथा परमात्मा की शरणागति को क्रियायोग कहते हैं, क्योंकि इसी क्रियायोग के द्वारा समाधि की योग्यता प्राप्त होती है। और पंचक्लेशात्मक माया के आवरण का नाश होता है। वास्तव में पुरुष तथा प्रकृति के संयोग का परमलक्ष्य भी यही है कि–

स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतु संयोगः

प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ स्वरूप को जानने के उद्देश्य से ही यह संयोग हुआ है। परमात्मा की भी परिभाषा इसी पर आधारित है कि–

क्लेशकर्मपरिपाकाशयैरपरामृष्टो ईश्वरः

अर्थात् अविद्याजनित पंच क्लेश तथा क्लेशजनित कर्माशय तथा उसके परिपाक से सदैव सर्वदा मुक्त वही ईश्वर है, वही गीता का उत्तमपुरुष है और वही सभी प्राणियों में चैतन्यतत्व के रूप में निवास करने वाला परमात्मा है। उसकी शरण लेने से जीवभाव से मुक्ति निश्चित हो जाती है। यह मुक्ति ही मानव–जीवन का परम उद्देश्य है। जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है सो वह तो परमात्मा की सेविकामात्र है, क्योंकि "तदर्थमेव दृश्यस्यात्मा" अर्थात् प्रकृति तो परमपुरुष की आज्ञा से ही सब कार्य करती है, परमात्मा की इच्छा ही सर्वोपरि है। यह जीवन का परम सत्य है।

***

जन्म मृत्यु हि यात्येको भुनक्त्येकः शुभाऽशुभम्।
नरकेषु पतत्येक एको याति परां गतिम्।।

–चाणक्य नीति

मनुष्य अकेला ही आवागमन (जन्म मृत्यु) के चक्र में फंसता है, अकेला ही पाप पुण्य का फल भोगता है, अकेला ही नाना प्रकार के कष्टों को भोगता है और अकेला ही मोक्ष पाता है। माता–पिता, भाई बन्धु, नाते और रिश्तेदार कोई भी उसके दुःख–सुख को बांट नहीं सकते।

विनय

भूपेन्द्र 'अंकुश' जलेसर

आ गया हूँ शरण में भला या बुरा;
देखना है तुम्हें; सोचना है तुम्हें।
कीच से हूँ सना; दूध का हूँ धुला;
देखना है तुम्हें; सोचना.......टेक

इसकी फटकार तो उसकी दुत्कार है।
मेरे जीवन की पूँजी तिरस्कार है।।
मेरी किसमत का कमरा इन्ही से भरा;
देखना है तुम्हें............१

पहले पुचकारता; मारता फिर जगत।
नौ सौ चूहे हड़प बिल्ली बनती भगत।।
मुझसे क्या-क्या कहा; मैंने क्या-क्या सहा;
देखना है तुम्हें.............२

गलतियों को कहूँ तो कहाँ तक कहूँ।
गलतियों की नदी में अभी तक बहूँ।।
गलतियों का चले या रुके सिलसिला;
देखना है तुम्हें.............३

गोद है आपकी; बाँह है आपकी।
साँवली-मृदु-जटा-छाँह है आपकी।।
सीधे-सादे निपट जाय ये मामला;
देखना है तुम्हें............४

माया और अहंकार

अहंकार का दोष

सूर्य वैसे तो सारे संसार को प्रकाश और ताप देता है पर यदि वह मेघ से आच्छन्न हो जाए तो ऐसा नहीं कर पाता। इसी भाँति जब तक हृदय अहंकार के आवरण से आच्छादित रहता है तब तक उसमें भगवान् प्रकाशित नहीं हो पाते।

यह 'अहं' मेघ की तरह है। इसी के कारण हम ईश्वर को नहीं देख पाते। यदि श्रीगुरु की कृपा से अहं-बुद्धि दूर हो जाए तो फिर ईश्वर के पूर्ण दर्शन हो जाते हैं। जैसे, सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर ही साक्षात् पूर्ण ब्रह्म श्रीरामचन्द्रजी हैं, किन्तु बीच में सीता रूपिणी माया का आवरण होने के कारण लक्ष्मण-रूपी जीव को ईश्वर राम के दर्शन नहीं होते। शिष्य ने श्रीरामकृष्ण परमहंस से पूछा महाराज, हम लोग इस तरह बद्ध क्यों हुए है ? हम ईश्वर को क्यों नहीं देख पाते ? उनका उत्तर था-

जीव का अहंकार ही माया है। यही अहंकार सब आवरण का मूल है। 'मैं' के मरने पर ही सारा जंजाल दूर होगा। अगर किसी को ईश्वर की कृपा से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' यह ज्ञान हो जाए, तब तो वह जीवन्मुक्त ही हो गया। फिर उसे किसी बात का भय नहीं।

अगर मैं अपने को इस अंगौछे की ओट कर लूँ तो तुम मुझे नहीं देख सकते। पर मैं तुम्हारे बिल्कुल नजदीक ही हूँ इसी भाँति, और सभी चीजों की अपेक्षा ईश्वर ही तुम्हारे सब से ज्यादा निकट है, किन्तु इस अहंरूपी आवरण के कारण तुम उनके दर्शन नहीं पाते।

जब तक अहंकार रहता है तब तक न ज्ञान होता है, न मुक्ति मिलती है, इस संसार में बार-बार आना-जाना पड़ता है। हण्डी में रखे पानी और चावल, दाल, आलू आदि को तब तक छुआ जा सकता है जब तक हण्डी आग पर नहीं रखी जाती। जीव की देह मानो हण्डी है और धन-मान, विद्या-बुद्धि, जाति-कुल आदि मानो चावल, दाल, आलुओं की तरह हैं। अहंकार ही आग है। अहंकाररूपी अग्नि के ही कारण जीव गरम (गर्वीला) होता है। बरसात का पानी ऊँची जमीन पर नहीं ठहर पाता, बहकर नीची जगह में ही जमता है। वैसे ही ईश्वर की कृपा भी नम्र व्यक्तियों के ही हृदय में ठहरती है, अहंकार-अभिमानपूर्ण हृदय में नहीं।

जब तक अहंकार पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाता तब तक मनुष्य की मुक्ति नहीं। अहं के कारण बछड़े की कैसी दुर्गति होती है, देख। बछड़ा जन्मते ही 'हम्बा' 'हम्बा' ('हम' 'हम') करने लगता है इसीलिए तो उसे इतने क्लेश भुगतने पड़ते हैं। बड़ा होते ही वह हल में जोता जाता है और उसे सुबह-शाम भारी हल चलाते रहना पड़ता है। इतना ही नहीं, वह कसाई के हाथों काटा जाता है। उसका मांस खा लिया जाता है और चमड़े से जूते बनते हैं, ढोल बनता है लेकिन इतना होते हुए भी उसका अहंकार नहीं जाता। ढोल को इतना पीटा जाता है पर वह

'हम' 'हम' के ही बोल निकालता है। इतने पर ही छुटकारा नहीं मिल जाता। अन्त में उसकी अंतड़ियों से ताँत बनती है और धुनिया उसे अपने धनुहे में लगाकर रुई धुनकता है, तब जाकर वह 'तुहूँ' 'तुहूँ' ('तुम' 'तुम') कहने लगती है। यह 'मैं' निकल जाकर उसकी जगह 'तुम' आ जाना चाहिए, परन्तु आध्यात्मिक जागरण हुए बिना यह सम्भव नहीं। मुक्ति तभी मिलेगी जब तुम्हारा 'मैं' मन चला जाकर तुम भगवान् में ही डूब जाओगे। मुक्ति कब होगी ? जब 'मैं' चला जाएगा तब।

एक और प्रश्न है कि मैं मुक्त कब होऊँगा ? उत्तर मिला

जब तुममें यह 'मैं' नहीं रहेगा। 'मैं' और 'मेरा' यह अज्ञान है; 'तुम' और 'तुम्हारा'—यह ज्ञान है। जो ठीक–ठीक भक्त होता है, वह सदा कहता है, "हे प्रभो ! तुम्हीं कर्ता हो, तुम्हीं सब कुछ कर रहे हो। मैं तो केवल तुम्हारे हाथों का यन्त्र मात्र हूँ; तुम मुझसे जैसा करवाते हो वैसा ही मैं करता हूँ। यह धन, ऐश्वर्य, यह जग तुम्हारी ही महिमा है। यह घर, यह परिवार सब कुछ तुम्हारा है, मेरा कुछ भी नहीं। मैं तुम्हारा दास हूँ। जैसा तुम्हारा हुक्म होगा, वैसी ही सेवा करने भर का मुझे अधिकार है।

अहंकार पर विजय पाना आसान नहीं

और सब अभिमान धीरे–धीरे चला जाता है, परन्तु साधुत्व का अभिमान जाते नहीं जाता। जिस कटोरे में लहसुन पीसकर रखा जाता है उसकी गन्ध सौ बार माँजने पर भी नहीं जाती। 'मैं' मन भी ऐसा ही पाजी है, चाहे कितनी ही कोशिश करो, वह जाते नहीं जाता। अजीर्ण का रोगी अच्छी तरह जानता है कि अचार या चटनी उसके लिए हानिकारक है, किन्तु फिर भी संग का गुण ही ऐसा है कि उन चीजों को देखने से ही मुँह में पानी आ जाता है। 'मैं' और 'मेरा' को दूर करने के लिए कितना भी प्रयत्न करो पर प्रत्यक्ष व्यवहार के समय यह 'कच्चा मैं' न जाने कहाँ से आ ही जाता है।

यह सच है कि एक–दो जनों को समाधि प्राप्त होकर उनका 'अहं' चला जाता है; परन्तु साधारणतया 'अहं' नहीं जाता। लाख विचार करो, पर 'अहं' घूम–फिरकर फिर से हाजिर हो जाता है। पीपल का पेड़ आज काट डालो, कल सुबह ही देखोगे कि फिर अंकुर निकल आया है। जो अपना नाम–यश चाहते हैं वे भ्रम में हैं। वे यह भूल जाते हैं कि एकमात्र ईश्वर की ही इच्छा से सब कुछ हो रहा है, वही सब का नियामक है। ज्ञानवान् व्यक्ति कहता है, 'प्रभो, तुम, तुम'; मूढ़ अज्ञानी ही 'मैं, मैं' करता है।

'पक्का मैं' और 'कच्चा मैं'

'मैं' दो तरह का होता है, एक है 'पक्का मैं' और दूसरा 'कच्चा मैं'। "जो कुछ मैं देखता, सुनता या महसूस करता हूँ उसमें कुछ भी मेरा नहीं है, यहाँ तक कि यह शरीर भी मेरा नहीं है।" "मैं नित्य मुक्त हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ।"—यह "पक्का मैं" है। "यह मेरा मकान है", "यह मेरा

लड़का है", "यह मेरी पत्नी है", "यह मेरा शरीर है"—यह सब 'कच्चा मैं' है। 'मैं प्रभु का दास हूँ' यही सही "भक्त का मैं' है— 'विद्या का मैं' है, इसे 'पक्का मैं' कहा जाता है। 'दुष्ट मैं' क्या है ? 'दुष्ट मैं' वह है जो कहता है, "क्या ! वे मुझे नहीं जानते ? मेरे इतने रुपए हैं ! मेरे इतना बड़ा आदमी कौन है ? मेरी बराबरी करे इतनी हिम्मत किसमें है ?" जो "मैं" मनुष्य को संसारी बनाता है, कामिनी कांचन में आबद्ध करता है, वह 'दुष्ट मैं' है। जीव और ब्रह्म में भेद बस इसलिए है कि उनके बीच यह 'मैं' खड़ा हुआ है। पानी पर यदि एक लाठी डाल दी जाए तो पानी दो भागों में बँटा हुआ सा दीख पड़ता है। 'अहं' या 'मैं' ही यह लाठी है, इसे उठा लो तो जल एक ही रह जाएगा।

अहंकार पर विजय पाने का उपाय

'मैं' पर विचार करते–करते दिखाई देता है कि 'मैं' केवल एक शब्द भर है। किन्तु फिर भी इसे दूर करना अत्यन्त कठिन है। इस कारण यही कहना चाहिए कि "अरे दुष्ट 'मैं' ! तू जब किसी हालत में जाएगा ही नहीं तो फिर ईश्वर का दास बनकर रह !" "मैं ईश्वर का दास हूँ" यह 'पक्का मैं' है।

शंकराचार्य का एक शिष्य था। वह कई दिनों से उनकी सेवा कर रहा था पर आचार्य ने उसे अब तक एक भी उपदेश नहीं दिया था। एक दिन शंकराचार्य अपने आसन पर बैठे हुए थे, ऐसे समय किसी के आने की आहट हुई। आचार्य ने पूछा, "कौन है ?" शिष्य बोला, "मैं"। तब आचार्य बोले, ""मैं' यदि तुझे इतना ही प्रिय है तो उसे और बढ़ा ले (अर्थात् 'सारा जगत् मैं ही हूँ' यह धारणा कर ले), नहीं तो फिर उसे पूरी तरह त्याग दे।" यदि देखो कि 'मैं' नहीं दूर होता तो रहने दो उसे 'दास मैं' बना हुआ। "हे ईश्वर ! तुम प्रभु हो, मैं दास हूँ" इसी भाव में रहो। "मैं ईश्वर का दास हूँ, भक्त हूँ" ऐसे 'मैं' में दोष नहीं। मिठाई खाने से अम्लरोग होता है, पर मिश्री इसका अपवाद है। 'दास मैं', 'भक्त का मैं' या 'बालक का मैं' ये सब मानो जलराशि पर खींची गई रेखा के समान है। यह 'मैं' अधिक देर नहीं ठहरता।

मिठाइयों से रोग होता है, पर मिश्री में दोष नहीं। उसी प्रकार, 'कच्चा मैं' हानिकारक है, परन्तु "मैं ईश्वर का दास या भक्त हूँ" इस तरह के 'पक्के में' में दोष नहीं है, बल्कि यह साधक के भक्तिपथ पर आगे बढ़ने का ही सूचक है। इसके द्वारा ईश्वर लाभ होता है। 'दास मैं' वाले व्यक्ति की काम–क्रोधादि प्रवृत्तियाँ किस प्रकार की होती हैं ? अगर उसका भाव ठीक–ठीक हो तो उसकी पूर्व प्रवृत्तियों का केवल आकार मात्र रह जाता है। ईश्वर प्राप्ति के पश्चात् यदि किसी का 'दास मैं' या 'भक्त मैं' बना रहा तो भी वह व्यक्ति किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। पारस पत्थर को छूने पर तलवार सोना बन जाती है, तलवार का आकार तो रहता है, पर वह किसी की हिंसा नहीं कर सकती।

अगर तुम्हें अहंकार ही करना है तो 'मैं ईश्वर का दास हूँ, मैं ईश्वर की सन्तान हूँ' इस तरह का अहंकार करो। महापुरुषों का स्वभाव बालकों जैसा होता है। ईश्वर के समीप वे सदा

ही बालक है, इसलिए उनमें अहंकार नहीं रहता। उनकी सारी शक्ति ईश्वर की शक्ति है, पिता की शक्ति है, स्वयं की कुछ भी नहीं। ईश्वर ही सब कुछ कर रहे हैं, वे यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूँ—यह विश्वास यदि किसी में आ जाए तब तो वह जीवन्मुक्त ही हो गया। "हे प्रभो, तुम्हारा कर्म तुम्हीं करते हो, पर लोग कहते हैं मैं करता हूँ।" जब तक 'मैं जानता हूँ' या 'मैं नहीं जानता' ये भाव हैं, तब तक व्यक्तित्व का बोध भी है। मेरी ब्रह्ममयी माँ ने कहा है, "जब मैं तुम्हारे 'अहं' को पूरी तरह मिटा देती हूँ, तभी तुम्हें समाधि में मेरी अरूप सत्ता की—निरुपाधिक स्वरूप की—उपलब्धि हो सकती है।" तब तक तो यह 'मैं' रहता ही है।

अपनी निम्न—प्रकृति के साथ बहुत संग्राम करने के पश्चात्, आत्मज्ञान के लिए तीव्र साधना करने के बाद ही समाधि अवस्था प्राप्त होती है। समाधि होने पर 'मैं' 'मेरा' कुछ नहीं रह जाता। किन्तु ऐसी समाधि बहुत मुश्किल है। 'मैं' बड़ा बलवान् होता है—किसी तरह जाना नहीं चाहता। तभी तो हमें फिर—फिरकर संसार में जन्म लेना पड़ता है। जब तक ईश्वर के दर्शन न हों, जब तक उस पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना न बन जाए, तब तक 'मैं कर्ता हूँ' यह भ्रम रहेगा ही; 'मैंने—सत्कर्म किया', 'मैंने असत्कर्म किया' यह भेदबोध रहेगा ही। यह भेद—बोध उन्हीं की माया है, और इसी के कारण यह संसार चल रहा है। विद्यामाया का आश्रय लेने पर सन्मार्ग पकड़कर चलने से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। जो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, वही माया को पार कर सकता है। 'ईश्वर ही एकमात्र कर्ता हैं, मैं अकर्ता हूँ' यह विश्वास जिसे है वही जीवन्मुक्त है।

सिद्ध पुरुष का अहंकार

क्या 'अहं' कभी पूरी तरह से नहीं जाएगा ? कमल की पंखुड़ियाँ समय पर झड़ जाती हैं लेकिन उनका निशान रह जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है, तो उसका अहंकार पूरी तरह नष्ट हो जाता है, पर उसका थोड़ा दाग रह जाता है; किन्तु उस अहंकार से कोई अनिष्ट नहीं होता। जिसने ईश्वर के दर्शन किए हैं वही ठीक—ठीक ज्ञानी है। उसका स्वभाव बालक जैसा हो जाता है। बालक के भी अलग व्यक्तित्व होता है, अस्मिता होती है, परन्तु वस्तुतः यह केवल आकार मात्र है। बालकों का 'अहं' बड़ों के 'अहं' की तरह हानिकारक नहीं होता।

कुछ महापुरुष सातम भूमि या समाधि की सर्वोच्च अवस्था में पहुँचकर भगवद्—बोध में विलीन हो जाने के बाद भी लोककल्याण के लिए उस भूमि से उतर आते हैं। समाधि के बाद भी वे इच्छापूर्वक 'विद्या का अहं' रख देते हैं। यह अहं का आभासमात्र है, यह पानी पर खींची गई रेखा के समान होता है। रस्सी जल जाने पर भी उसका आकार बना रहता है, पर उसके द्वारा किसी को बाँधा नहीं जा सकता। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में दग्ध होकर अहं का भी केवल आकार भर रह जाता है। मनुष्य सपने में यह देखकर कि कोई उसे काटने आ रहा है, मारे डर के हड़बड़ाकर उठ बैठता है। यद्यपि वह उठकर देखता है कि कमरा बन्द है और अन्दर कोई

नहीं है फिर भी कुछ समय तक उसकी छाती धड़कती रहती है। इसी भाँति यह 'मैं' मन या अभिमान चला जाने पर भी उसका कुछ जोर रह ही जाता है।

समाधि के बाद भी कोई–कोई 'मैं' को रख छोड़ते हैं–'दास मैं' या 'भक्त का मैं'। शंकराचार्य ने लोकशिक्षा के लिए 'विद्या का मैं' रख छोड़ा था। हनुमान को ईश्वर के साकार और निराकार दोनों स्वरूप के दर्शन हुए थे किन्तु इन दर्शनों के बाद उन्होंने 'दास मैं' रख छोड़ा था। नारद, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार आदि ने भी इसी तरह ब्रह्मदर्शन के बाद भी 'दास मैं', 'भक्त मैं' रख छोड़ा था।

अब प्रश्न उठता है कि–क्या नारदादि केवल भक्त थे या ज्ञानी भी थे ?

नारदादि को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था, किन्तु फिर भी वे कलनादिनी निर्झरिणी की तरह भगवन्महिमा का गुणगान करते हुए विचरण करते रहते थे। लोकशिक्षा और धर्म रक्षा के लिए उन्होंने 'विद्या का मैं' रख छोड़ा था, ब्रह्म में पूर्ण विलीन न होकर अपने अलग अस्तित्व का मानो थोड़ा चिन्ह रख छोड़ा था।

एक बार श्री रामकृष्ण देव ने अपने एक शिष्य से विनोद में पूछा, "क्यों, क्या तुम्हें मुझमें कोई अभिमान नजर आता है ? क्या मुझमें अभिमान है ?"

शिष्य ने कहा, "जी महाराज, थोड़ा–सा है, पर आप में उतना अभिमान इन कारणों से रखा गया है–पहला, देहधारण के लिए; दूसरा, भगवद्–भक्ति के उपभोग के लिए; तीसरा, भक्तों के साथ सत्संग करने के लिए; और चौथा, लोगों को उपदेश देने के लिए। फिर यह भी तो है कि इस 'अहं' को रखने के लिए आपने काफी प्रार्थना की है। वैसे देखा जाए तो आपके मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति समाधि की ओर है। इसी से मैं कह रहा हूँ कि आपमें जो 'अहं' या अभिमान बचा है वह आपकी प्रार्थना का ही फल है।"

तब श्री रामकृष्ण देव बोले, "ठीक है, लेकिन इस 'मैं' को बनाए रखने वाला मैं नहीं, जगदम्बा है। प्रार्थना को स्वीकार करना जगदम्बा के ही हाथ में है।"

❊❊❊

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्रः नाकृतं भुज्यते क्वचित्।।

—महाभारत

शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म ही सब जगह फल देता है। बिना कर्म किये कोई फल भोगा नहीं जा सकता।

गुरुदेव जन्मोत्सव

धूमधाम से मना गुरुदेव जन्मोत्सव

गुरुदेव के सभी आश्रमों में श्री गुरुदेव का पावन जन्मोत्सव मनाया गया। गुरुदेव के जन्म-भूमि अलुपुर ग्राम में यह उत्सव अत्यन्त हर्षोल्लास से मनाया गया। नव निर्मित श्री प्रभु जी के दरबार में श्री आनन्दकन्द प्रभु जी एवं गुरुदेव के स्वरूपों को विराजमान कराया गया। आदरणीया गुरु बहिन उमा शक्ति ने स्वरूपों को विराजमान किया। इस अवसर पर आचार्य पूर्ण चन्द शर्मा, संस्था के प्रधान लाला ताराचन्द गर्ग, वरिष्ठ उपप्रधान विशन चन्द गर्ग तथा संस्था के हजारों गुरुभाई बहिन उपस्थित थे। सत्संग भवन की दीवारों पर गुरुदेव की जीवन लीलाओं का चरित्र चित्रण किया गया प्रदर्शन भी भक्तों के लिये प्रसन्नता एवं प्रेरणा का स्रोत बना। १५ अक्टूबर को सभी भक्तों ने गुरुदेव की मूर्ति पर पंचामृत चढ़ाकर अभिषेक व स्नान कराया। तत्पश्चात् भण्डारा सम्पन्न किया गया। उत्सव में इलाहाबाद झाँसी, वाराणसी धनबाद, झरिया, नैनीताल, पंजाब व मध्य प्रदेश के गुरु भाई बहिनों ने सत्संग में आकर पुण्य लाभ किया।

श्री सिद्ध गुफा सवाई आश्रम में भी गुरुदेव का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। प्रतिवर्ष की भाँति यह उत्सव सौहार्दपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। श्री सिद्ध गुफा योग मन्दिर दिल्ली में भी इस महोत्सव के धूमधाम से मनाये जाने का समाचार प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त गुरुदेव के संकल्प से निर्मित मण्डी आश्रम में श्रीमद्भागवत् कथा के साथ यह उत्सव मनाया गया। काँगड़ा व अन्य आश्रमों से भी श्री गुरुदेव के पावन जन्मोत्सव के मनाये जाने का समाचार मिला है। इस अवसर पर सभी आश्रमों में गुरुदेव के संस्मरण के साथ व्याख्यान व योगोपदेश का कार्यक्रम व अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम गुरु भक्तों के लिये प्रेरणास्पद रहे।

भाव प्रसून

—श्रीमती सरिता भारद्वाज, नई दिल्ली

श्री सत्गुरु के दरस बिन,
मो पै रह्यौ न जाय।
जल के बिन ज्यौं मॉछरी,
तड़फ–तड़फ मरि जाय।
तड़फ–तड़फ मरि जाय,
बिना पानी के कतहुँ न जीवै।
शुद्ध प्रेम की यह मिसाल,
लै जगत जीव यह जीवै।

स्वामि सेव की सूक्ष्म डोर,
दासी पकरावै।
मेरे गुरुवर करौ विधान,
तुम बिना सरित न जीवै।
तुम्हरे सम्मुख यह शीस,
सदा पुनि पुनि झुकि जावै।
और जब तक जीवित रहे दासि यह,
बार–बार तुम्हें ध्यावै।।

प्रभुजी इस संसार में, तुम सब कोऊ नाहिं।
देखि लियौ चहुँ दिशि भटकि, तुम सम दानी नाहिं।
तुम सम दानी नाहिं, देखि लियौ सब को परखि कै,
जब तक हैं धन धाम सभी तक, सब मिलते हैं हँसिकै।
तुम्हें छोड़ जग के सब प्राणी, केवल बस ठुकराते हैं।
बीच भँवर में खड़ी वह 'सरिता' सुन यह हृदय लगाते हैं।

जीवन की गति यों बहे, ज्यौं सरिता कौ नीर।
जगत–भँवर से काढ़ि करि, जल्दी दे दो तीर।
जल्दी दे दो तीर कि नैना सतत बहावैं नीर।
रोके से भी ना रुकें, चाहे लाख करूँ तदवीर।
उर सालन को मिल रहे, जग में लाखों तीर।
शाश्वत सत्य जानकर गुरुवर, जल्दी दे दो तीर।।

श्यामल नीले धाम सी, प्रकटे भोले नाथ।
मानो जग–उद्धार का, वचन देत यग नाथ।।
श्वेत मूँज कटि कांछनी, ऐसी लागे मोहि।
मानो तीनों ताप को, बाँधि रखे हैं गोय।।
वरद हस्त हैं आपके, मैं कैसे करूँ बखान।
मुझ बूड़त को तार दो, सुन लो कृपा निधान।।
महा दानि वर दानि तुम, ऐसे भोले नाथ।
आशिष मुद्रा आपकी, चरण धरूँ निज माथ।।

मोहन महल

—लाला० मोतीराम, अलूपुर

मोहन महल बना अलूपुर में, जिसकी छवि न्यारी।
दूर–दूर से देखन आवें, भारत के नर–नारी।।
योग की दिव्य ज्योति है, गुरुदेव का जन्म स्थान है।
जगह–जगह पर लिखा इस पर, श्री प्रभुजी का नाम है।।
मरकत मणि का बना सिंहासन, गुरुदेव स्वयं विराजे।
दुःखियों के दुःख दूर करें, भाग्य हमारे जागे।।
श्री बाँके बिहारी मन्दिर से मेल यह खाता है।
वह तो कृष्ण की बृज भूमि, यह मोहन का ग्राम कहलाता है।।
योगदान देने वाले भाईयों ने, अधिक रुचि दिखलाई।
४० दिन में निर्माण पूरा हुआ, जय गावें लोग–लुगाई।।
सात अजूबे थे दुनिया में, आठवाँ ये बना है।
देख लो देख लो जी भरके, कमल का फूल खिला है।।
प्रभुजी की लीला कैसी है, कर्नाटक से शिल्पी आए।
जन्म से लेकर गुरुदेव के, योगीराज तक के चित्र बनाए।।
संगेमरमर का बना महल, स्फटिक शिला लगाई।
देख–देख इसकी सुन्दरता, आँखें भी चुंधियाई।।
जगमग–जगमग हुई महल में, जैसे बिजली चमके।
देख–देख प्रभु माया को, सबके दिल धड़के।।
सन्मुख आँगन में इसके, नीम की शीतल छाया।
माना परिजात वृक्ष को, इन्द्र ने आन लगाया।।
चौदह अक्टूबर सन् ०२ को हुआ उद्घाटन, मोती ने कविता गाई।
प्रभुवर गुरुवर विराजमान हुए, बाज उठी शहनाई।।
सभी देवता झूम उठे, स्वर्ग से पुष्प बरसाई।
मानो आई सावन ऋतु, मेघा ने झड़ी लगाई।।

निराश लोगों में आशा के संचारक हैं, प्रभुजी !

मुनीष 'सत्य प्रकाश' गुप्ता

सिद्धों की कृपायें सदा ही वर्णन से बाहर होती आई हैं कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश कोई भी उनकी कृपाओं का वर्णन नहीं कर सकते हैं फिर मैं और आप क्या चीज हैं ? न जाने वे कब, किस समय, किस स्थान पर, किस बहाने से अपने संस्कारी बच्चों पर, कैसी कृपा कर देते हैं। ऐसे ही महासिद्ध 'महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज' और 'श्री चन्द्रमोहन जी महाराज' जी ने अपने कई बच्चों के ऊपर भिन्न–भिन्न कृपायें की। कुछ बच्चों को तो उन्होंने तत्काल ही सिद्ध और योगी बना दिया। और कइयों की कुण्डलिनी जागृत करके उन्हें योग मार्ग में लगा दिया। असंख्य कृपायें तो उन्होंने पाँच भौतिक शरीरों को धारण करके की। और पाँच भौतिक शरीरों को त्यागने के बाद तो, वह अपने अनगिनत बच्चों के ऊपर कृपायें कर रहे हैं। जिसका वर्णन हमें हर महीने सिद्धयोग मासिक पत्रिका में मिलता है। ऐसे ही अकारण कृपालु श्री प्रभु जी ने संसार से दुःखी हुए मुझ जैसे नाचीज व्यक्ति पर कृपा कर दी। श्री प्रभु जी ने मुझे रोग के बहाने अपनी शरण में बुलाया था। और फिर योग मार्ग में लगा दिया।

भगवान श्री कृष्ण जी गीता में कहते हैं कि हे अर्जुन उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी (सांसारिक पदार्थों के लिए) आर्त (संकट निवारण के लिए), जिज्ञासु (मुझको यथार्थ रूप में जानने की इच्छा वाले) और ज्ञानी। ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं या हम कह सकते हैं कि चार प्रकार से भक्तजन प्रभु की शरण में आते हैं। मैं भी ज्यादातर संकट के समय भगवान को याद कर लिया करता था और कभी–कभी मन में कई जिज्ञासा भी उत्पन्न हो जाती थीं जैसे कि आदमी पैदा होता है तो फिर वह मर क्यों जाता है ? किसी के मरने पर कई लोग रोते हैं तो फिर बाद में हँसते क्यों हैं ? अगर मरना ही सत्य है तो फिर हम सुखी किस को कर रहे हैं। यह मनुष्य किस सुख को प्राप्त करने के लिए पैसे के पीछे भाग रहा है ? क्या इन्हें अपनी मौत का पता नहीं है ? यह मौसम क्यों बदलता है ? ये दिन–रात क्यों बनते हैं ? मैंने क्या कर्म किया कि मैं बीमार हो गया आदि–आदि। मुझे कुछ एक दिमाग का, और एक पेट का रोग था। जब रोग ज्यादा बढ़ता गया फिर तो आर्त बनकर प्रभु को याद करने लगा। इसी बीच श्री प्रभु जी की कृपा से अब मुझे भगवान श्री कृष्ण जी की दिव्य वाणी 'श्री मद्भगवद् गीता' पढ़ने को मिल गई। इसे पढ़ने पर मेरे मन में कई जिज्ञासायें शांत हो गई और कई संशय नष्ट हो गये। और अब श्री प्रभु जी की अजीबोगरीब कृपायें मेरे ऊपर होने लग पड़ी हैं। कुछ एक इस प्रकार हुआ करती थीं।

कभी–कभी जब मैं घर में अकेला होता था तो परमात्मा और प्रकृति के बारे में ही सोचता रहता था कि ऐसा–ऐसा क्यों ? वैसा, वैसे क्यों, और इसी बीच कभी–कभी सोचते–सोचते मन एकाग्र हो जाता था। फिर मैं पदम आसन पर बैठ जाता, तो मुझे भगवान शिव (ध्यान में) दिखाई

देते थे। कभी-कभी ऐसे सोचते-सोचते मैं बिस्तर पर लेट जाता था मन विचार शून्य हो जाता था। मुझे ऐसे लगता था कि कोई अदृश्य शक्ति मेरे शरीर (सूक्ष्म) को खींच रही है। मुझे डर लगने के बजाय आनन्द की अनुभूति होती थी। जैसे कि कहीं से कोई आवाज आ रही हो, 'कि तुम कब आओगे'। मुझे ऐसा लगता था कि कोई मुझे कहीं पर बुला रहा है। इसके लगभग एक वर्ष बाद के अनुभव-

जब मैं 'श्री मद्भगवद् गीता' पढ़ने बैठता तो मन में प्रायः एक विचार आता था, कि ऐसा भी कभी, कहीं सत्य हो सकता है कि कोई मनुष्य इस शास्त्र में बताये गये नियमों पर चलता हो, या हो सकता है किसी ने ऐसे ही लिख दिया हो। पर दूसरे ही पल मन में विचार आता, नहीं भगवान की वाणी कभी असत्य नहीं हो सकती। फिर कभी-कभी पढ़ते-पढ़ते मन में यही आवाज आती, जिस सत्य को तुम ढूँढ रहे हो अभी भी कई लोग इन नियमों पर चलते हैं। और दूसरे कई मनुष्यों को इस मार्ग पर चलाने का प्रचार और प्रयास कर रहे हैं और उनमें से कुछ वहीं पर है। जहाँ तुम रोज जाते हो। मैं तो रोजाना कॉंगड़ा ही जाता था। मैंने इसके बारे में बहुत पता किया पर कुछ पता नहीं चला। एक दिन फिर मुझमे वही आवाज सुनाई दी परन्तु अब मैं सोचता था कि बीमारी के कारण दिमाग खराब हो गया है। और मुझे कोई भूत-प्रेत लग गया है जो मुझे अपने पास बुला रहा है। इन्हीं दिनों मैं होशियारपुर रोड (कॉंगड़ा में) पर टाइप सीखने जाता था, यह स्थान कॉंगड़ा चौक से लगभग ५० कदम आगे है। और वर्तमान श्री सिद्ध योग आश्रम से ३० कदम पीछे होगा। यह आजकल बन्द है। तो फिर वही हुआ आवाज आई, आजकल तो तुम उस स्थान के बहुत नजदीक पहुँच गये हो। पर अब मैंने इन बातों पर ध्यान देना छोड दिया था। बाकी तो जो हुआ सो हुआ पर बीमारी के कारण मुझे पढाई छोड़नी ही पड़ गई। वह भी बीच मझधार में।

रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। मैं ऐलोपैथिक, आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक सारे के सारे इलाज करवा चुका था। आयुर्वेदिक से थोड़ा फायदा हुआ पर वह भी न के बराबर। फिर एक दिन वही आवाज सुनाई दी, कि तुम्हारा इलाज योग-आसनों से हो सकता है। अब बात कुछ स्वार्थ की थी तो फिर सच कैसे नहीं मानता। उस समय तक मैंने भी योगा ही सुन रखा था। अब मैं किसी ऐसे व्यक्ति या स्थान की तलाश करने लगा पड़ा, जहाँ योगा सिखाया जाता हो। मैंने कॉंगड़ा में तथा आस-पास के कई स्थानों पर पता किया पर कुछ पता नहीं चला। इसी तलाश में मै अपने दो मित्रों सहित पुराना कॉंगड़ा जैनियों के मन्दिर में गया। वहाँ पर किसी ने बताया कि एक 'श्री विजय पुरी जी' हैं। जो कॉंगड़ा में योग सिखाते हैं जब पुरी शब्द सुना तो मन में ख्याल आया कि पुरी जाति के दो लड़के हमारे कालेज में भी पढ़ते हैं और किसी तरह से मेरी उनके साथ वाकफियत भी थी। अगले दिन ही मैंने उनसे पूछा-तो उन्होंने बताया कि वह तो हमारे चाचा जी हैं। जिन्होंने होशियारपुर रोड पर, जो पुराना कॉंगड़ा को सड़क जाती है वहीं पर एक शिव मन्दिर बनाया है और वहीं पर ही वह योग सिखाते हैं। मैंने

पूछा कि फीस वगैरह क्या लेते हैं ? तो उन्होंने बताया कि वह केवल समाज सेवा ही करते हैं। फिर मैंने पूछा कि किस समय सिखाते हैं और सीखने में कितने दिन लगते हैं ? तो उन्होंने बताया कि सुबह ६ बजे से ८ बजे तक सिखाते हैं और सीखने में ७ या ८ दिन लग जाते हैं। पहले तो मैं खुश हुआ पर समय के बारे में सुन कर फँस गया। क्योंकि सुबह ६–७ बजे तक तो मैं बिस्तर से ही उठता था। फिर भी सोचा चलो, पता चल गया, फिर कभी सोचेंगे। दो–तीन दिन बाद मैं अपने उन्हीं दोनों मित्रों को साथ लेकर मन्दिर देखने चल पड़ा। उस समय मन्दिर बन्द था। हमने भी बाहर से मन्दिर देखा और अपने घर चले आए। उस दिन फिर वही आवाज़ आई, आज तुम मेरे पास से ही गुज़र गए। पर मैंने कोई खास ध्यान नहीं दिया।

यह योगा (योग) का रास्ता मुझे मिला तो पर अब काफी देर हो चुकी थी। क्योंकि इससे पहले ही, संस्कारों के वेगों ने मेरी दिशा कहीं और ही बदल दी थी। अब मुझे ऐसा लगता था कि यह शरीर तो बेकार हो ही गया है। अब घर वालों पर बोझ बनने से क्या फायदा ? चलो कहीं भाग चलते हैं। मैं भी एक दिन घर वालों से झूठ बोल कर चल पड़ा। मेरा कोई उचित निर्णय नहीं था कि कहाँ जाऊँगा ? सिर्फ एक निर्णय था कि जितने पैसे हैं उनसे जितने दिन गुजारा चलेगा ठीक है फिर अन्न एक समय, फिर निराहार, फिर 'श्री मदभगवद् गीता' के अठारहवें अध्याय को पढ़ता रहूँगा और प्राण त्याग दूँगा। लेकिन होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है। मैं घर से चल पड़ा। पहले सीधा चण्डीगढ़ गया, फिर हरिद्वार, हरिद्वार से लखनऊ, लखनऊ से बनारस, बनारस से काशी, और बनारस से गया, गया से धनबाद। यहाँ रात को एक बड़ी अजीब घटना घटी, जैसे कि किसी ने मेरे मन को पकड़ कर बदल दिया हो। रात को मुझे स्वप्न हुआ कि तुम यहाँ क्या कर रहे हो ? घर में देखा है ? माँ–बाप कितने दुःखी हैं। चलो, यहाँ से वापिस तुम्हारे पिता जी की दुकान तो है वहाँ बैठ जाना। बाकी जो होना है या होगा वह देखा जाएगा। मैंने घर वापिस आने का निर्णय कर लिया। फिर अगले दिन मुज़फ्फरनगर, मुज़फ्फरनगर से बनारस, बनारस से अयोध्या (सरयू–हनुमानगढ़ी), अयोध्या से आगरा, मथुरा, वृन्दावन, श्री कृष्ण जन्म भूमि आदि क्षेत्र मथुरा से दिल्ली, दिल्ली से अपने घर। अब तो बस यही सोचता रहता था कि न परमात्मा मिला न रोग से छुटकारा हुआ और न ही पढ़ सका। परन्तु मन में एक निर्णय था कि परमात्मा की प्राप्ति का कोई न कोई उपाय जरूर करूँगा।

कुछ दिनों के बाद फिर मन में आया कि वैसे भी तो मर रहा हूँ, चलो योग भी करके देख लेता हूँ। एक हफ्ता ही तो लगेगा। शुरू–शुरू में तो माता–पिता जी भी नहीं मानते थे। लेकिन एक दिन मेरी बड़ी बहन, जिसकी काँगड़ा में शादी हुई है, वह हमारे घर आई थी। मैंने उससे भी उस मन्दिर के बारे में तथा योग के बारे में पूछा–तब उसने बताया कि वहाँ योग–आसनों द्वारा रोगों का इलाज किया जाता है। और कई लोगों को फायदा होता है। पर सुबह ६ बजे जाना पड़ता है। पता नहीं कैसे एक दिन माता–पिता जी भी राजी हो गये। वह शुभ दिन १८ अप्रेल १९९६; जब मैं सुबह ६ बजे उठा और ६ बजे तक 'श्री सिद्ध योग आश्रम काँगड़ा' में पहुँच

गया। वहाँ पर श्री विजय पुरी जी एक आदमी से, उसके रोग के बारे में बातचीत कर रहे थे। फिर उन्होंने मुझसे बात की और आने का कारण पूछा–मैंने भी उन्हें अपने रोग के बारे में बतला दिया। उन्होंने कहा ठीक है। आरती का समय हो गया है। बाद में कुछ करते है। आरती के बाद श्री विजय पुरीजी (वर्तमान श्री स्वामीजी) ने मुझे जमीन पर लिटा दिया। और नाभी पर हाथ लगा कर चैक किया। फिर दोनों टाँगों की मालिश की और फिर झाड़ दिया, पता नहीं क्या किया ? लेकिन दूसरे ही दिन से आराम होना शुरू हो गया। दूसरे दिन श्री अमितपुरी ने स्वामीजी के कहने पर मुझे 'जीवन तत्व साधन' की पहली चार क्रियाएँ करवाई। फिर २–३ दिन बाद सूत्र–नेति भी करवाई गई। फिर लगभग १०–१५ दिनों में रोग पूर्णतया शान्त हो गया। जब मैंने माता–पिता जी को यह बात बतलाई तो वह बहुत खुश हुए। अभी तक मुझे इस बात का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था कि यह वही स्थान है जहाँ पर मुझे कोई २–३ वर्षों से बुला रहा था। इस रहस्य का पता मुझे इस आश्रम में आने के लगभग एक–डेढ़ वर्ष बाद लगा। फिर धीरे–धीरे मैंने श्री स्वामी जी से कुछ आध्यात्मिक प्रश्न पूछने शुरू कर दिये। इसी बीच ध्यान करने की बात आ गई। २५ अप्रेल १९९९ को मुझे भजन में बिठा दिया। मुझे क्या पता था कि यह ध्यान क्या होता है ? उन्होंने मुझे प्रसाद दिया और मन्त्र जप की विधि बतला दी। और कहा–वहाँ उस कौने में बैठ जाओ। मन्त्र–जप करते–करते मेरा शरीर काँपने लग पड़ा। इसी बीच कभी–कभी मुझे थोड़ा डर लग रहा था और कभी प्रसन्नता महसूस हो रही थी। यह दिन मेरे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण दिन रहा और मुझे परमात्मा पर विश्वास हो गया। इसी बीच श्री प्रभु जी की कृपा से मुझे श्री मदभगवद् गीता भी समझ आने लग पड़ी और मेरे कई राशयों का नाश होना शुरू हो गया। एक दिन फिर वही आवाज आई कि एक वर्ष तक तुम्हें कोई रोग नहीं होगा। तथा अन्य कोई भी मुसीबत तुम्हारे रास्ते में नहीं आएगी। जितना भजन कर सकते हो कर लो। श्री प्रभु जी की कृपा से धीरे–धीरे मेरा ध्यान में बैठने का समय बढ़ता ही जा रहा था। तीन–चार घण्टे बैठना तो आम बात थी। एक दिन शिवरात्रि वाले दिन (फरवरी २०००) को तो श्री प्रभु जी की कृपा से मैं लगभग लगातार एक ही आसन पर २२ से २४ घण्टे बैठा रहा और मुझे कुछ पता भी नहीं चला कि इतना समय कैसे बीत गया। एक वर्ष तक तो सब कुछ ठीक–ठाक चलता रहा। परन्तु एक वर्ष पूरा होने की देर थी कि धीरे–धीरे कुछ बाधायें आनी शुरू हो गई।

हमारे कुछ रिश्तेदार भी (काँगड़ा के रहने वाले) इस मन्दिर में अपने–अपने रोग निवारण के लिए आते थे। श्री प्रभु जी की कृपा से उनका रोग तो ठीक हो गया किन्तु बाद में अहम् में आ गये और इस मन्दिर के बारे में बुरा भला कहने लग पड़े। कभी–कभी मेरी माता जी भी इन रिश्तेदारों के यहाँ जाती थी। तब वे कहते थे, देखिए भाई, आप हमारे अपने हैं, इसलिए कह देते हैं कहीं आप का लड़का बाबा न बन जाए। हमने देखा है वह दो–दो, तीन–तीन घण्टे आँखें बन्द करके बैठा रहता है। और कभी–कभी तो जड़ हो जाता है। मन्दिर में जो वह वृद्ध

है, यहाँ पे कोई भूतप्रेत रहता है जो महिलाओं और बच्चों को लग जाता है इसलिए वह रोती और चिल्लाती है। हमारा तो बताना फर्ज है वैसे तुम्हारा इकलौता पुत्र है। माता जी ने भी उन की बात मान ली और घर में पहुँच कर मुझ से कहने लगी, लोग क्या कहते हैं आपका बेटा बाबा बन जाएगा ? देखो, अब तुम से शादी कौन करेगा। ठीक है अगर पूजा ही करती है तो घर में भी की जा सकती है। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया—एक कान से सुना दूसरे से निकाल दिया। यह तो माता जी की बात हो गई दूसरी तरफ हमारी दुकान पर (नगरोटा बगंवा) कुछ यहाँ के ही लोग पिताजी के कान भर देते थे। वे कहते थे उस मन्दिर में नौजवान लड़कों को बाबा बना दिया जाता है। और महिलाओं को वश में कर लिया जाता है। देखो आप, यहीं पर पुरियों का लड़का बाबा बन गया है (श्री महात्मा जी) यह सब उपदेश मेरी गैर मौजूदगी में होता था। परन्तु मेरी माताजी तो कभी—कभी मन्दिर में आ जाया करती थी, क्योंकि उनको अक्सर गैस की बीमारी लगी रहती थी। प्रभु जी की कृपा से, सत्संगियों से सुन—सुना कर, धीरे—धीरे उनको इस आश्रम में महिलाओं, पुरुषों तथा बच्चों के साथ होने वाली, कुण्डलिनी की क्रियाओं के बारे में पता लगने लग पड़ा कि यह तो परमात्मा की कृपा है, कोई भूत—प्रेत नहीं। उसके बाद मेरी छोटी बहन 'गोपिका' भी कभी—कभी मन्दिर में आ जाया करती थी। श्री प्रभु जी की कृपा से उसका ध्यान लगना शुरू हो गया। एक बार मेरी माताजी को गैस का रोग ज्यादा बढ़ गया। उनको बार—बार डकार आती रहती थी। नगरोटा—काँगड़ा-चण्डीगढ़ तथा आस—पास के कई डाक्टरों तथा वैद्यों का इलाज करवाया पर कोई फायदा नहीं हुआ। माताजी तो मन्दिर आने को कहती पर पिता जी नहीं मानते थे। आखिरकार हार फिर कर इसी मन्दिर में आना पड़ा। फिर क्या था तीन—चार दिन लगातार आते रहे और आसन करते रहे। श्री प्रभुजी की कृपा से तीन—चार दिन में ही फर्क पड़ना शुरू हो गया और १०—१५ दिन में रोग ठीक हो गया।

यह बात कोई अक्टूबर—नवम्बर २००० की है पता नहीं संस्कारों का क्या खेल था कि मेरा ध्यान लगना धीरे—धीरे बन्द हो गया और पेट का रोग फिर से शुरू हो गया और फिर कुछ पहले जैसे लक्षण नजर आने लग पड़े। कहाँ तीन—चार घण्टे ध्यान में बैठता था और कहाँ एक—दो घण्टे बैठना मुश्किल हो रहा था। अब मन में एक ही बात घुमड़ती थी कि श्री प्रभुजी को अगर ऐसा ही करना था तो फिर मुझे बुलाया ही क्यों था ? न माता—पिता जी को खुश कर सकता हूँ ना ही मैं परमात्मा को प्राप्त कर सका। एक तरफ माता—पिता जी भी विरोध कर रहे थे, दूसरी तरफ ध्यान भी नहीं लग रहा था और तीसरी तरफ फिर वही रोग। अब तो मैंने निश्चय कर ही लिया था कि ठीक है जो होना होगा, वही होगा। परन्तु अब मैं दुकान पर जल्दी जाया करूँगा। और धीरे—धीरे मन्दिर में आने का समय भी कम कर दूँगा। मैं इस बात का निर्णय कर ही रहा था कि ५—७ दिन बाद श्री महात्मा जी को प्रभुजी की आज्ञा हुई कि इसको (मुझे) समाधि में बैठाया जाए। १४ दिसम्बर २००० को श्री महात्मा जी ने मेरे साथ मिलकर एक Hexafonal type बड़ी ईंटों का स्थान बनाया, जिस प्रकार प्रभु जी ने उन्हें बताया था।

इसके बनाने के बाद मेरे मन में कई प्रश्न बार–बार घूमते थे। यहाँ पहुँचना इतना कठिन क्यों है ? यहाँ टिकना इतना मुश्किल क्यों है ? कृपाओं को देखकर, सुनकर भी लोग अनजान क्यों हैं ? ऐसा क्यों हो रहा है ? संसार में इतने प्रचारों की होड़ है, किताबें छापते हैं, प्रवचन होते हैं, फिर भी कोई सत्य को क्यों नहीं पहचानता। क्या ऐसे ही संसार में पाखण्ड का प्रचलन बढ़ता जाएगा ? इन सब प्रश्नों के साथ एक प्रश्न और जुड़ गया कि श्री महात्मा जी ने यह स्थान मेरे लिए ही क्यों बनवाया ? जबकि इस आश्रम में तो मुझसे ऊँची–ऊँची स्थिति के और साधक भी हैं। क्योंकि यह सिर्फ श्री महात्मा जी को पता था और श्री प्रभुजी को। जब यह स्थान श्री महात्मा जी ने बना दिया, तब मेरे पास एक मौका था अपनी शंकाओं के हल का। आखिरकार मैंने हिम्मत करके पूछ ही लिए सब प्रश्न।

आज मैं दो साल पहले के उस दिन को याद करता हूँ जब उन्होंने ये शब्द लिखे थे। क्योंकि अब तो न किसी से बात करना, न देखना, यही अवस्था है उनकी। किसी से न लेना, न देना प्रभु चरणों में मग्न रहना। यह क्या स्थिति प्रभु ने दी है। काश हम पर भी प्रभु जी ऐसी ही कृपा करें। अब देखना, सुनना, बोलना, बाहर निकलना बंद है। आज्ञा के अनुसार। अब तो इन्तजार है उस पल का, जब सब क्रियाएँ फिर से शुरू कर देंगे। तब क्या होगा ? मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता, कामना तो है ऐसी कृपा की। पर हम खुद विचार करें कि हम उस कृपा शक्ति को पचा पायेंगे ? फिर उन्होंने कुछ लिख दिया है। उस समय तो उसका एक भी शब्द मेरी समझ में नहीं आया। पर प्रभुजी ने प्रेरणा दी कि इन शब्दों को 'नोट' कर लूँ तब मैंने श्री महात्मा जी से नोट करने के लिए पूछा तो उन्होंने भी आज्ञा दे दी। जब यह शब्द मैंने एकान्त में कई बार पढ़े तो इन शब्दों का रहस्य कुछ–कुछ मेरी समझ में आने लगा।

हो न हो प्रभुजी ने मुझे अवश्य ही श्री महात्मा जी के द्वारा सम्भलने का अवसर दिया था। क्योंकि यह मुझे बाद में अनुभव हुआ। तथा जैसे भी प्रभुजी ने मुझे पहले ही घर पर कहा था कि आज कहीं सत्संग है तो तुम्हारे घर से पाँच कि.मी. की दूरी पर और यह तब कहा था जब मैं इस स्थान को जानता भी नहीं था फिर आज यही मन्दिर मेरे जीवन की दिशा का केन्द्र बना है। परन्तु जब मैं इन शब्दों को पढ़ रहा था तो सोच रहा था कि यह कैसा पंगा ले लिया। इससे तो अच्छा होता, चुप ही रहता। क्योंकि इन शब्दों ने मेरे अन्तःकरण को हिलाकर रख दिया था और आज यही शब्द मेरी साधना में कई बार सहायक हो रहे हैं। अब प्रभु जी ने मौका दिया इन शब्दों को लेख में लिखने का ताकि मेरे भाई–बन्धु जो साधना में हैं उन्हें कुछ सहायता मिल सके। ऐसा हुआ तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा।

श्री महात्मा जी द्वारा 2005 में लिखे शब्द–

"जो तुमने प्रश्न किये हैं उनका उत्तर दो शब्दों में भी हो सकता है पर पता नहीं श्री प्रभु जी लिखवाकर क्या बतलाना चाह रहे हैं, यह तो वह करुणानिधान ही जानें। क्योंकि मैं तो एक कठपुतली की तरह बन कर रह गया हूँ। धागे का नियन्त्रण तो श्री प्रभु जी के पास है। जैसा वह चाहेंगे वैसा ही होगा।

गीता, जिसे असंख्य लोग पढ़ते हैं उन में से तुम भी एक हो। लेकिन केवल उस पवित्र ग्रन्थ को पढ़ा और काम निपटाया। उसमें श्री प्रभु जी ने उपदेश दिया है कि मन, बुद्धि को मेरे चरणों में समर्पित कर दो, क्या कभी प्रयास किया ? वह कोई उपन्यास नहीं है यह श्री प्रभुजी के मुखार बिन्दु से निकली हुई सिद्धवाणी है। जिसका एक–एक शब्द महामन्त्र है। उसे सूक्ष्म शरीर पर धारण करो। तभी समझोगे इस अमूल्य वाणी का महत्व, तभी उनके प्रकाश की तह तक पहुँच सकोगे। अन्यथा अन्धकार में ही मनुष्य जीवन खो दोगे। कारण है कि जीव के अन्दर जो प्रकाश है उस पर तो उसने पहले ही सौ मन का ताला लगा दिया है। और दूसरों से तर्क करके अपनी पशु रूपी बुद्धि से न्यायाधीश बन जाता है। कई आसुरी लोगों को तुम आगे आने वाले समय में देखोगे और उनके सम्पर्क में भी आओगे। जिन्होंने शब्दों के पुल तो बाँधे होंगे और तर्क करेंगे।

खुद तो शून्य है और दूसरों को उपदेश। लेकिन श्री प्रभुजी ने कहा है कि ऐसे व्यक्ति इस दरबार में कदापि नहीं टिक सकेंगे। क्योंकि उन का दर्जा धृतराष्ट्र से भी नीचे का है। धृतराष्ट्र तो आँखों से ही अन्धा था, परन्तु ये लोग तो यहाँ की कृपाओं को देख, सुनकर भी अन्धे हो जायेंगे। हालांकि श्री प्रभुजी ने उन्हें आँखें दी, कृपाओं को देखने के लिए, कान दिये, श्री प्रभुजी की लीलाओं को सुनने के लिए। और पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के कारण दरबार को सुनने के लिए। और पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के कारण दरबार में बैठने का सौभाग्य भी प्रदान किया।

ऐसे लोगों का प्रभु की कृपाओं को देखना, सुनना बंद क्यों हुआ और होगा, क्योंकि सारी आयु तो उन्होंने विषय–भोगों की तृप्ति में गुजार दी। अब सिर्फ शब्दों के ज्ञान से लोगों की आँखों में धूल झौंक रहे हैं क्योंकि किताबें छापने और शब्दों के रटने से श्री प्रभु जी की प्राप्ति थोड़े होती है। जिसे लोग सद्गुरू योगिराज, महाराज, ब्रह्मचारी, ज्ञानी कहते फिरते हैं। उन की दशा उस गिद्ध पक्षी जैसी है जो उड़ता तो आकाश की ऊँचाई पर है पर नजर हमेशा सड़े मुर्दे पर रहती है। इसलिए उनके लिए वही कहावत ठीक है–"हम तो डूबेंगे सनम, तुम्हें भी ले डूबेंगे।" खुद तो अन्धकार रूपी समुद्र में गोते खा रहे होंगे और दूसरी पुण्यआत्माओं को भी अन्धकार रूपी समुद्र में अपने साथ धकेल रहे होंगे। लेकिन यह तभी तक होगा जब तक यह रचना पूर्ण नहीं होगी। जब श्री प्रभु जी इस रचना को पूर्ण कर देंगे, तब तो मतवाले भाग–भाग कर आयेंगे, क्योंकि तब वह प्रकाश पूर्ण रूप से उजागर हो चुका होगा। जो उन पुण्य आत्माओं को अन्धकार से दूर ले जाएगा।

श्री प्रभु जी कहते हैं तुम यहाँ पर आते हो क्यों ? क्योंकि तुम्हारे प्रबल संस्कार हैं। और श्री प्रभु चरणों की भूख है। जिस दिन तुममें उस भूख की थोड़ी भी मात्रा का अन्तर आ गया और दो छटांक की बुद्धि से निर्णायक बन गये। तो खुद अनुभव करोगे कि तुम यहाँ पहुँच पाओगे न ही यहाँ टिक सकोगे। कई विघ्न तुम्हारे रास्ते में खड़े हो जायेंगे।

श्री प्रभु जी कहते हैं, कि जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए तो संसार में दिन–रात लगा रहता है। जैसे धन, दौलत, बीबी, बच्चे, मान–सम्मान, सद्‌गुरुदेव, योगिराज। इनको स्थापित करते–करते वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है क्योंकि यह जीवन उसने अपने हितों की पूर्ति में लगा दिया। पर जो मेरा प्रिय है, भक्त है, मेरे ह्रदय में निवास करता है वह इन नश्वर चीजों की परवाह नहीं करता, वह तो यही कहते हैं 'हे प्रभुजी ! अगर मरूँ भी तो सिर्फ आपके हित के लिए। अन्यथा नश्वर चीजों का बोझ सिर पर उठाऊँ तो, तत्काल अपने मलमूत्र से भरे शरीर का त्याग कर दूँ। ऐसा श्री प्रभुजी कर दें तो फिर बात ही क्या है, एक जन्म क्या, बार–बार भी कम है, उन श्री चरणों में !

यह जो श्री महात्मा जी के ऊपर लिखित शब्द हैं यह समाधि अवस्था के शब्द हैं क्योंकि मैंने तत्वदर्शी महापुरुषों के ग्रन्थों में पढ़ा है कि संसार में अगर कोई सत्य का ज्ञान है तो सिर्फ समाधि का ज्ञान बाकी शास्त्रों को पढ़ कर या सुनकर, जिसमें केवल मन बुद्धि के तर्क–वितर्क का ज्ञान होता है वह कोरा ज्ञान होता है। शायद इसलिए ही श्री महात्मा जी के शब्दों को समझना मेरे लिए कठिन हुआ और शायद आपके लिए भी होगा। कई बार श्री महात्मा जी ने कहा– कि सिद्धों की कृपाओं को समझना कोई बुद्धि का विषय नहीं है यही कारण है कि यहाँ पर कई आते हैं कई जाते हैं, परन्तु टिक कोई–कोई ही पाता है। जिसने भी यहाँ बुद्धि का प्रयोग किया, उसका पहला प्रवेश ही शायद आखिरी प्रवेश बन गया हो। यह मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

अब आप अपने स्थानों पर स्वयं अनुमान लगा सकेंगे। अगर आप में मनुष्य बुद्धि है तो यहाँ तक पहुँचना और टिकना कितना मुश्किल है। अब वह दिन आ गया १५ दिसम्बर २००० को मैंने Hexagonal स्थान पर बैठना शुरू कर दिया। उसके बाद मुझे पता चला कि यह रोग का संस्कार काफी कठिन था, पर श्री प्रभु जी की अपारकृपा से समाधि में बैठने के बाद यह संस्कार काफी हद तक क्षीण होना शुरू हो गया। वैसे यह रोग बाद में कई बार हुआ पर प्रभु जी की कृपा से टिक नहीं पाया। फिर जनवरी २००१ में मुझे पता चला कि अगली सर्दियों में मेरे पिता जी भी इस मन्दिर में आयेंगे। परन्तु मुझे विश्वास नहीं हुआ। फिर एक दिन २५ दिसम्बर २००१ को मेरे पिता जी भी किसी बहाने से मन्दिर में आ गये। आये तो वह मुझे, गोपिका और स्वामी जी को समझाने के लिए थे परन्तु जब उन्हें पूरी कहानी सुनाई गई तो उनका मन भी बदल गया और अब पिता जी भी कभी–कभी इस मन्दिर में आ जाया करते हैं।

इस तरह प्रभु जी ने मुझ जैसे संसार की ठोकरें खा–खा कर, संसार से हारे हुये, मौत की तलाश में भटकते हुए, रोग से मुक्ति ढूँढते हुये को अपनी शरण में ले लिया और अकारण कृपा करके दिव्य योग मार्ग में लगा दिया है। देखते रहिये, आगे क्या–क्या होता है ?

***

भजन

बृजेन्द्र स्वरूप द्विवेदी

हे सवांई वाले योगेश्वर तेरा ही एक सहारा है।
मेरी विपदाएँ दूर करो, करुणा दृष्टि इस ओर करो,
संकट के बीच घिरा हूँ मैं, आशा से तुम्हें पुकारा है।।
हे सवांई..............................१

कुकुम अक्षत और पुष्पों से नैवेद्य, धूप और अर्चन से
नित तुम्हें पुकारा करता हूँ, क्यों अब तक नहीं निहारा है।।
हे सवांई..............................२

सबकी बाधाएँ हरने वाले, जन-जन की बाधा हरते हो,
मेरी भी भवबाधा हरना, गुरुवर ये काम तुम्हारा है।।
हे सवांई..............................३

जब-जब मानव संकट में पड़े, तब-तब तुमने अवतार लिया,
रामचन्द्र से रामलाल चन्द्रमोहन गुरु रूप तुम्हारा है।
हे सवांई..............................४

समरसी को तुमने तारा, मोह भरम सब दूर किया,
हे शिव स्वरूप हे महाप्रभो, शंकर भी रूप तुम्हारा है।
हे सवांई..............................५

धरती के राम दुलारे तुम, गोविन्द तुम्ही और साईं हो,
कभी शंख चक्र और पद्म लिए, विष्णु भी रूप तुम्हारा है।
हे सवांई..............................६

बहु रूपों में प्रभु जनम लिया जग का तुमने कल्याण किया।
हे नेपालवासी सद्गुरुवर मुड़ियाँ देव भी रूप तुम्हारा है।
हे सवांई..............................७

जब सिद्ध गुफा में तप करके, सारे जग योग प्रचार किया,
चन्द्र मोहन बन आए ऋषिकेश देवराहा शिष्य तुम्हारा है।
हे सवांई..............................८

जब आचार्य प्रवर ने तप करके गायत्री अभियान चलाया था,
दर्शन दे योग का तत्व दिया ज्योतिर्मय रूप तुम्हारा है।।
हे सवांई..............................९

तेरी शरण में आकर प्रभु, तेरी ही महिमा गाकर प्रभु,
योग जगत के भक्तों ने गुरु, श्रद्धा से तुम्हें पुकारा है।।
हे सवांई वाले योगेश्वर तेरा ही एक सहारा है।।इति।।

"संस्कार शक्ति व साधना-शक्ति" (भाग-3)

कु० रुक्मिणी वर्मा, सहारनपुर

१-गर्भ कालीन संस्कार

पूर्व प्रकरण में मात्र जन्म लेने के कारण ही बहुत से ऐसे गुणों अवगुणों का चित्त में सहज निवास होना बताया गया था, जो हमारे संस्कार चक्र को बनाने में सहायक होते हैं। उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर बल दिया गया था कि भगवान श्री कृष्ण गीता में भ्रष्ट हुए योगाभ्यासी साधक का जन्म श्रेष्ठ, धनवान, ज्ञानी अथवा योगी के कुल में होना कहते हैं। साथ ही साथ माधव यह भी कहते हैं कि ऐसा जन्म संसार में निःसन्देह अति दुर्लभ है (गीता ६/४१/४२)। गोविन्द के विज्ञानानुसार योगभ्रष्ट साधक, साधारण व्यक्तियों की तुलना में विरले ही होते हैं, परन्तु इससे भी विरली बात है योगियों व ज्ञानियों का कुल मिलना। अतः संस्कार का अगले जन्म में भी संरक्षण विरलों को ही मिल पाता है। मुख्य श्रृंखला संस्कार के खराब होने की 'मात्र जन्म लेना' इसी धारा में चल पड़ती है। परन्तु जन्म का हेतु तो पूर्वजो के गुणों–अवगुणों का (धातु में पल्लवित शुक्राणुओं द्वारा) नवजात चित्त में प्रवेश होता है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण संगति होती है गर्भ–कालीन संस्कार की। जिस प्रकार हवन सामग्री में घृत का डालना यज्ञ की ज्वालाओं का वेग बढ़ाता है, ठीक इसी प्रकार पूर्वजों की गुणों–अवगुणों वाली श्रृंखला को अधिक मजबूत तथा संस्कारों का प्रवाह बढ़ाने में संगति करते हैं गर्भ कालीन संस्कार। तो आइये इसी प्रकरण को विस्तार से समझने का प्रयत्न करें।

पूर्वजो के संस्कारों का भावी (पैतृक धरोहर) के रूप में मिलना मात्र एक क्रिया पर निर्भर है, जिसके बिना देह का निर्माण होना असम्भव है और वह प्रक्रिया है संयोग। इस प्रक्रिया में स्त्री व पुरुष दोनों की तेजोमयी धातु का परस्पर मिलना और अण्डज सृष्टि विधान के तहत पिण्ड बनना प्रारम्भ होता है। धातु का मिलन अल्प समय का वास है, इसके तेजस में पिता के पूर्वजों तथा माता के पूर्वजों के संस्कार सहज प्राकृतिक नियम से पिण्ड में प्रवेश पाकर पल्लवित होने लगे। दो खानदानों के गुणों का मिश्रण हो गया। पिता के अन्दर भी केवल परपिता के संस्कार ही नहीं थे, अपितु परमाता (दादी) के पूर्वजों के भी संस्कार थे। अर्थात् हमारे माता–पिता का देह निर्माण–चित्त भी दादा–दादी के चित्त–संस्कारी धारा से पोषित है। इस प्रकार बहुत से परिवारों का खून व संस्कार धारायें हमारे खून व चित्त में अवश्य ही सुप्त या जागृत अवस्था में स्थान घेरे हुए हैं। स्थूल रूप से इस पर विचार करते हुए सूक्ष्म रूप से इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है। कि संयोग की अल्पकालीन अवधि में अनेक चित्त–गुण–धर्म हमारे चित्त में स्थान पा गये तो जो माता हमें नौ मास तक अपने गर्भ में धारण

करती है. उस गर्भकालीन अवस्था में माता के चित्त का साया कितना अभिन्न साथ देता है अर्थात् नव चित्त में सबसे अधिक स्थूल व सूक्ष्म प्रवाह संस्कार माता का होता है। इसलिए कहते हैं कि मजबूरी भी यदि आ जाये तो नीच घर में (निम्न कोटि के गुण धर्म वाला परिवार) अपनी कन्या दे तो दे परन्तु नीच कुल की कन्या लेने की भूल स्वप्न में भी न करे। व्यवहार कुशलता से उच्च व निम्न कोटि के कुल की पहचान होती है। यदि गुणी कन्या गुणहीन कुल में जायेगी तो अपना प्रभाव अवश्य ही दिखायेगी और बीज रूप में अपने गर्भ में नौ मास तक शिशु पालन करके अधिकांश मात्रा में नवीन रचना में अच्छे संस्कारों को हस्तान्तरित करेगी। अर्थात् काफी मात्रा में गुणहीनता नष्ट करने में धर्म–पूरित संस्कार स्थापना में सहायक सिद्ध होगी।

और यदि गुणहीन कन्या (निम्न कुल की) अच्छे में आ गयी तो भेद उत्पन्न करके बीज रूप को नवमास तक अपने गर्भ में पोषित करके कुसंस्कारों की गति को बढ़ायेगी और दुष्कर्म संस्कारों की स्थापना में सहायक सिद्ध होगी।

जन्मजात संस्कार चिरस्थायी होते हैं। —नीति वचन

उपर्युक्त तथ्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिए 'रावण' का उदाहरण देना तर्क–संगत रहेगा। राक्षसों ने देव शक्ति को पराजित करने के लिए, अपना वर्चस्व फिर से मुखरित करने के लिए और मानव धर्म नष्ट करने के लिए इस युक्ति का गहनता के साथ विचार करके प्रयोग किया कि यदि हमारी वंश कन्या किसी प्रकार से इन ऋषियों–मुनियों के वंश में स्थान पा जाये तो बिना युद्ध ही हम इनका कष्ट बढ़ा देंगे और अपनी जाति–शक्ति इनके वंश के रूप में इन्हीं के कुल में पल्लवित करके परोक्ष रूप में राक्षसी प्रवृत्ति से भरके फिर प्रत्यक्ष रूप में उस नव पिण्डज सृष्टि में स्वयं भी सम्मिलित हो जायेंगे। अतः उन्होंने उच्च राक्षस–प्रवृत्ति से परिपूर्ण अपनी एक कन्या, जिसका नाम कैकसी था, उस वनप्रदेश में स्वच्छन्द विचरण हेतु भेज दिया। महर्षि विश्रवा उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थे। इनके तेज की शक्ति का सब लोहा मानते थे। इन्होंने अपने तेज से अनेक राक्षसों का संहार किया था अतः राक्षसों ने इन्हें ही अपने प्रतिशोध की शुरुआत के लिए चुना। कैकसी को अच्छी प्रकार समझा–पढ़ाकर महर्षि विश्रवा का तप भंग करने के लिए प्रेरित किया। एक दिन महर्षि विश्रवा स्नान करने के लिए सरिता तट पर बैठे ही थे कि उन्होंने एक सुन्दर कन्या जो अति लावण्य रूप से युक्त थी, ऐसी गौरवर्ण कन्या की देह को नीलवर्ण जलराशि की झलमल तरंगों में झिलमिलाते देखा। दृश्य को देखकर ऋषि जी ने नयन बन्द कर लिये। परन्तु कन्या (कैकशी) तो आई ही थी उन्हें अपने कामबाण से बिद्ध करने। ऋषि ने आँख खोली तो झनझनाती चूड़ियों की खनक तथा पायल की झनक ने फिर ऋषि के नयन आकर्षित किये। ऋषि ने फिर नयन मूँद लिये। वहाँ से उठकर वापस घर की ओर लौटने लगे तो पीछे–पीछे आते फिर उस अप्सरा को देखा। ऋषि हतप्रभ भी थे परन्तु मोहित भी। कामजनित वातावरण में ब्रह्मचर्य और आचार–विचार का पालन कैसे सम्भव है ? इस समाधान के लिए संयम के आठ शत्रुओं से बचने का निर्देश शास्त्र में मिलता है। यथा–

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्चक्रिया निर्वत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति विचक्षणाः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्ट लक्षणम्।।

अर्थात्–(१) कामुक क्रिया या विचारों को स्मरण करना, या यौन–क्रिया के साथी को स्मरण करना (२) कामुक क्रिया अथवा अश्लील हरकतों का बार–बार विचार करना (३) कामुक छेड़छाड़, इशारे, हँसी मजाक या हाथापाई करना (४) छिप कर ऐसे व्यक्ति या दृश्य को देखना, जिससे उत्तेजना बढ़े (५) एकान्त में विलासी बातें करना (६) क्रीड़ा की धारणा मन में बढ़ाना (७) काम–क्रीड़ा की पूर्ति के लिए साधन जुटाना (८) जान–बूझकर कोई प्रयास करना।–**स्वास्थ्य रक्षक**–

ये आठ प्रकार के कर्म अच्छे आचार–विचार के विपरीत होने के कारण 'ब्रह्मचर्य पालन' की दृष्टि से 'कुकर्म' माने जाते हैं। ऋषि ने पुनः पुनः कन्या के गौरवदन पर दृष्टिपात किया और कुत्सित विचार उनके अन्दर प्रवेश कर गये। महर्षि विश्वामित्र भी मेनका की भावभंगिमाओं का अवलोकन करके कामबाण के शिकार बने। महाराजा शान्तनु भी सत्यवती की देह में विचारमग्न होकर कामबाण से घायल हुए। हिडिम्बा भीम की विशाल देह का बार–बार विचार करके काम बाण से घायल हुई। नारद जी मोहिनी रूप धारणी अबला की सुन्दरता में बार–बार विचार करके मोह बाण से घायल हुए। इतिहास साक्षी है कि हर युग में नारी देह ने नर को खींचने का प्रबल किया परन्तु जिसने बार–बार विचारों को अपने मन में जगह दी, वही घायल हुआ और जिसने झटके के साथ कुत्सित विचारों का निरोध किया, वह विजयी हुआ। देवयानी ने कच के आगे हाथ जोड़कर प्रणय प्रार्थना की परन्तु कच टस से मस न हुए। उनकी बुद्धि की धारणा देवयानी में गुरु पुत्री होने के कारण वन्दनीया बहिन की थी। अतः शाप ग्रहण किया परन्तु काम बाण से बच गये और देव जाति को राक्षसों से बचा लिया क्योंकि शत्रु (राक्षसों) के गुरु श्री शुक्राचार्य जी की पुत्री का देव जाति में प्रवेश न पाने से वे बच गये। इसलिए अपनी भार्या को छोड़कर संसार में जितनी भी परी हैं उन सबमें श्रद्धा, देवी, माता, बहिन आदि की धारणा करनी चाहिये। यही नियम गृहस्थियों, वान प्रस्थियों और ब्रह्मचारियों के लिए है। ठीक इसी प्रकार सतीत्व की रक्षा करने के लिए स्त्री को भर्ता में निष्ठा करना तथा अन्य सभी पुरुषों में, भाई, पिता, देव वृत्ति रखना उत्तम है। शास्त्र कहते हैं–

परस्त्री संसर्ग आयु को नष्ट करता है। मनुस्मृति ४/१३४।

ब्रह्मचर्यमायुष्यकराणां श्रेष्ठतम्।–चरक संहिता।

ब्रह्मचर्य व्रत श्रेष्ठतम व्रत है, आयु की वृद्धि करता है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वय रसायनम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्।

–अष्टांग हृदय उत्तर ४०/४

धर्म के अनुकूल, यश देने वाला, आयुवर्धक, रसायन की तरह हितकारी और निर्मल ब्रह्मचर्य का अनुमोदन सर्वथा किया जाता है।

स्मृति मेधाऽऽयुरारोग्य पुष्टीन्द्रियशोबलैः। अधिकामन्द जरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः।।

—अष्टांग हृदय उत्तर ७/७५।

संयमी पुरुष की स्मरण–शक्ति, मेधा, आयु, आरोग्यता, पुष्टि, इन्द्रियों की शक्ति, शुक्र कीर्ति और शक्ति सभी बढ़ी हुई रहती है। अतः मुमुक्षु को संयमी तो हर प्रकार से होना ही चाहिये।

महर्षि विश्रवा ने संयम तोड दिया। केकशी के देह के विषय में चिन्तन करने से विचार की श्रृंखलाऐं इतनी बनी कि नवीन संस्कार उदित हुआ। अब यज्ञ करते तो मन नहीं लगता, बस रूप युवती का ध्यान। भोजन करते, तो रूप युवती का ध्यान, उठते–बैठते हर समय युवती का ध्यान। शनैः शनैः नयनरूपी मार्ग से सौन्दर्य छवि से ग्रस्त काम बाणों ने शरीर के समस्त अंगों में प्रवेश किया। और दर्शन ने स्पर्श की वेदना को उकसाया। साधन भी तैयार हो गया, अर्थात् विवाह निश्चित् हुआ। सभी शिष्य आश्रम छोडकर चले गये परन्तु काम अन्धा होता है। ज्ञान की सारी कुंजी छूमन्तर हो गयी, अन्त में परिणय सूत्र में बंधे ऋषि का जीवन सचमुच ही ऐसा स्वाहा हुआ कि विवाह के बाद एक–एक पल पश्चाताप की अग्नि में धू–धू कर जलना पड़ा। केकशी ने अपना असली मनोरथ सिद्ध करने के लिए सद्व्रतों में बाधा डालकर अपना असली राक्षसी रूप दिखाया। ऋषि जो भी व्रत करते, उसे भंग करती, यज्ञ करते तो मांस डालकर वेदी को अपवित्र करती। मांस खाती, मदिरा पीती, उल्टे आचार–व्यवहार, सब कुछ उलट–पलट कर रख दिया—एक राक्षसी कन्या ने एक सद्व्रती आचार्य का। ये देखिये नीच कुल की कन्या का श्रेष्ठ कुल के पतिगृह में कमाल। इसलिए हमारे पूर्वजों अनुभव में पकी बात बार–बार शास्त्रों, सूत्रों, नीतियों, स्मृतियों के द्वारा हमारे अन्दर डालने की बात कहते हैं कि नीचकुल की कन्या कभी न ले। केकशी गर्भवती हुई तो सन्तान राक्षसी ही हो, ब्राह्मण पति के पूर्वजों पर न चली जाये। अतः केकशी ने खान–पान, आचार–विचार, घर–बाहर का वातावरण, उठना–बैठना, सोना जागना आदि सभी कुछ दैत्य प्रवृत्ति का उग्र रूप से अपनाया। अतः रावण, कुम्भकर्ण, स्वरूपनखा यथा रूप पैदा हुए। ऋषि का अन्तर्मन जल उठा। छिप–छिप कर साधना करते, गोपनीय ज्ञान यज्ञ अनुष्ठान करते, पूर्वजों का आह्वान करते, देव प्रसन्न करते। गोपनीय भीषण तप करते। सब कुछ गोपनीय रखते क्योंकि कलहप्रिय स्त्रियाँ सदाचार में भी गोपनीय रूप से बाधा डालने में माहिर होती है। ऋषि का हृदय अपनी भूल की धूल में मिलने पर आत्मग्लानि से भरा हुआ था। एक–एक पल पश्चाताप की अग्नि में दग्ध होकर बीत रहा था। अस्तु तपश्चर्या आन्तरिक रूप से कृपा की याचना लिए, कलंक को मिटाने के लिए बढ़ने लगी। जितनी बड़ी हस्ती से जितनी बड़ी भूल होती है, उसका परिणाम भी भयंकर रूप से भुगतना पड़ता है। एक ब्राह्मण वंश राक्षस वंश बन गया। यह कोई छोटा कलंक न था। अतः ईश अनुकम्पा ने इस कलंक को धोने के लिए महर्षि को विभीषण जैसा पुत्र रत्न भी दिया। सम्पूर्ण राक्षस जाति दोष को अपने वंश से दूर करने का श्रेय श्री विभीषण जी को भगवान श्री राम ने दिया।

महर्षि विश्रवा और कैकशी का उदाहरण इस बात को स्पष्ट करता है कि पूर्ण वंश उज्ज्वल होते हुए भी माता के गर्भकालीन संस्कारों ने पूरा वंश राक्षसी बना दिया। अतः गर्भकालीन संस्कार अतिशय प्रभावी होते हैं।

इसी विज्ञान को ध्यान में रखते हुए राक्षसों के गुरु श्री शुक्राचार्य जी ने अपनी एकमात्र कन्या का विवाह बृहस्पति पुत्र श्री कच के साथ करने का मन बना लिया था। मेरी पुत्री देव पुत्र के साथ विवाह करेगी तो उत्तम होगा। राक्षसी वंश में तो राक्षस ही पैदा करेगी। अतः इसी लोभ वश उन्होंने देवताओं के गुरु श्री बृहस्पति नन्दन श्री कच को मृत संजीवनी विद्या की दीक्षा दी। दुर्भाग्य वश देवयानी और कच एक दूसरे को शाप दे बैठे, क्योंकि कच तो देवयानी में बहिन की धारणा रखते थे, क्योंकि देवयानी गुरु पुत्री थी। दूसरे जब राक्षसों के समूह ने कच को मारकाट कर, उसे जलाकर उसकी राख सोमरस में मिलाकर शुक्राचार्य को पिला दी थी तो कच को कहीं भी न पाकर देवयानी विह्वल हो गयी थी। क्योंकि शुक्राचार्य जी राक्षसों द्वारा मारे गये कच्छ को कई बार अपनी संजीवनी विद्या से जीवित कर चुके थे, अतः इस बार दिव्य दृष्टि से कच्छ को अपने पेट में सुरा में घुला पाकर गुरुदेव ने पेट में कच को सम्पूर्ण संजीवनी विद्या सिखायी। कच पेट में जीवित हो गये। परन्तु बाहर लाने के लिए गुरुदेव को अपना शरीर फाड़ना पड़ा। कच जीवित्त ही गुरुदेव की देह से बाहर आये और अपने गुरुदेव को संजीवनी विद्या से जीवित कर दिया। अब तो कच के लिए देवयानी सगी बहिन हो गयी। दोनों के पिता एक हो जाने पर, देवयानी को सगी बहन मानते हुए कच ने देवयानी की प्रणय याचना ठुकरा दी। अन्त में दोनों शाप ग्रस्त हो गये।

कहने का अभिप्राय मात्र इतना कि शुक्राचार्य भी इस विज्ञान (संस्कार विज्ञान) को ध्यान में रखते हुए ही देवयानी को देव-कुल में देना चाहते थे।

इतिहास साक्षी है, अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को तोड़ने की विधि गर्भ में ही सीख ली थी। यह विधि अर्जुन सुभद्रा को तब बता रहे थे, जब सुभद्रा के गर्भ में अभिमन्यु था। सुनते-सुनते सुभद्रा जी को नींद आ गयी और अर्जुन ने आगे का वृतान्त सुनाना बन्द कर दिया। यदि सुभद्रा जी थोड़ी और जाग लेती तो चक्रव्यूह को तोड़कर बाहर निकलने की बात भी सुन लेती और अभिमन्यु चक्रव्यूह में फंसकर दुश्मनों के हाथों मारा न जाता।

छत्रपति शिवाजी की माता जीजाबाई ने बच्चे में वीरता भरने के लिए अपने गर्भस्थ शिशु को वीरता का इतिहास सुनाया। वे गर्भ के समय धार्मिक पुस्तकें भी पढ़ती थी, अतः इसी पुण्य ने उनकी वृत्ति धार्मिक बनाई और उन्हें समर्थ गुरु रामदास जैसे सिद्धपुरुष गुरु रूप में मिले और गुरुदेव ने राजभोग के साथ-साथ उन्हें मोक्ष भी दिया। बच्चे में वीरता के जौहर भरे संस्कार भरके माता जीजाबाई ने उन्हें अभय राजसिंहासन दिया। एक छत्र अभय राज्य के शासक होने के कारण जीजाबाई के इस पुत्र का नाम छत्रपति शिवाजी हुआ।

इधर दुर्योधन की माता गान्धारी अपने गर्भकाल में एक ही विचार (जब दुर्योधन गर्भ में था)

से पीड़ित रही कि कुन्ती से पहले मैं गर्भवती हो जाती तो मेरा पुत्र राज्य का अधिकारी होता। इसी पीड़ा से गान्धारी इतनी त्रस्त रहा करती थीं कि दुर्योधन के चित्त में शैशव काल से ही पांडवों के प्रति ईर्ष्या के संस्कार उत्पन्न होते चले गये। माता के चिंतित व कुत्सित विचारों का ही परिणाम था दुर्योधन का मानस पटल। कितना गहरा प्रभाव था बच्चे के मस्तिष्क पर माता के नौमास के चिन्तन का।

गर्भ के समय राजा उत्तानपाद की छोटी पत्नी सुरुचि भी सुनीति के गर्भवती होने पर इसी विचार से पीड़ित रहा करती थी कि मैं गर्भवती पहले क्यों नहीं हुई। राजा तो सुनीति के पुत्र को ही राज्य का उत्तराधिकारी चुनेंगे। अतः सौत और सौत पुत्र तथा प्रजा के प्रति (रानी चिन्तित थी कि प्रजा भी राजा और सौत पुत्र का साथ देगी) रानी के मन में ईर्ष्या भाव थे। अतः गर्भ के समय के द्वेष पूर्ण चिन्तन ने रानी को कुसंस्कारी ईर्ष्यालु पुत्र दिया जिसका नाम उत्तम था। इधर अपने गर्भस्थ शिशु को सुसंस्कारी बनाने को रानी सुनीति ईश्वर भक्ति में लीन रहा करती थी। अतः उन्हें ईश्वर का परम भक्त 'ध्रुव' जैसा पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। अतः दूषित विचार मन में रखने से संस्कार दूषित होते हैं।

"एक दूषित विचार, हजारों दूषित-विचारों का गर्भ बन जाता है।"

—एक दार्शनिक

अतः सावधान ! हे माताओं तुम्हें सुसंस्कारों के संरक्षण में पृथ्वी की भाँति सहनशीलता व संयम अपनाना होगा। यदि माता भी कुसंस्कारी हुई और भावी सन्तान के पूर्व जन्मकृत संस्कार भी गलत हुए तो भूत ही पैदा होंगे। साथ में वातावरण भी दूषित, निवासित भूमि भी दूषित, मित्र मण्डली भी दूषित तो चाण्डाल प्रवृत्ति को कोई नहीं रोक सकता।

कुछ लोग शास्त्रों का प्रमाण देते हुए तर्क करते हैं कि राजा उग्रसेन व उनकी पत्नी अत्यन्त धार्मिक थे तो कंस दैत्य प्रकृति का क्यों था ? कंस राक्षसी तेज से उत्पन्न हुआ था, पिता उग्रसेन के से नहीं। उसी के भय से दग्ध दम्पत्ति को अपने एकनिष्ठ तपस्या का फल मिला श्री कृष्ण भगवान का सानिध्य।

इतिहास साक्षी है कि कुछ व्यक्तियों का जीवन अभिशापित होता था और कुछ का वरदानित। अतः विपरीत परिस्थिति में भी असम्भव में सम्भव और सम्भव में असम्भव घटना घट जाती थी। अतः अभिशापित व वरदानित जीवन पर बाह्य संस्कारों का उतना प्रभाव नहीं रहता, वे तो शाप व वरदान की तेज पुंज धारा में ही गतिशील होते हैं। उनकी नियति निर्णीत हो चुकी होती है। अश्वत्थामा के मस्तिष्क की मणि जब अर्जुन ने निकाली, तो माथे पर घाव हो गया और भगवान श्री कृष्ण ने कहा कि "जाओ जब तक ये पृथ्वी है, तुम्हारा घाव न भरेगा।" यथार्थ सत्य है कि आज भी अश्वत्थामा जीवित है। वह आज भी घाटियों में, पहाड़ियों में, पहाड़ों में जड़ी–बूटी विशेषज्ञों, वैद्यों और वहाँ के निवासी साधुओं के पास आता है। आज भी उसके मस्तिष्क में उतनी ही पीड़ा है, घाव से मवाद व खून रिसता है। माथे में पीड़ा रहती है। पूछने

पर एक ही बात कहकर अन्तर्ध्यान हो जाता है कि "क्या करोगे पूछकर हे भाई ! मुझे श्री कृष्ण का शाप है। मुझ पर कोई जड़ी–बूटी असर नहीं कर सकती। कोई भी सिद्ध अपने तपोबल, मन्त्रबल और सिद्धि बल से मुझे ठीक नहीं कर सकता।"

ये देखिये, अभिशापित जीवन की दुर्दशा। अतः हे मानव सावधान ! देव–बुद्धि पर मानव बुद्धि लगायेगा तो भ्रम ही हाथ लगेगा। हम इन सबके जीवन से शिक्षा तो ले सकते हैं परन्तु उनके जैसा दुराचार हो गया तो जनम–जन्मान्तर बिगड़ जायेंगे। देवों व प्राचीन ऋषियों जैसा तप आज कोई मानव नहीं कर सकता। राक्षसों को मारने के लिए तो स्वयं भगवान को आना पड़ा क्योंकि उनके तप की धारा भी संचित होती थी। तुम्हारे पास न तपोबल है न वरदान। अतः तुम्हें मारने के लिए तो एक बीमारी ही बहुत है, भगवान के हाथों की जगह आतंकवादी, उग्रवादी व डाकू तथा पड़ौसी के हाथ काफी हैं। भगवान के हाथों जो भी मरा उसे मिली मुक्ति और

गुरुवाणी–

आजकल माताएँ गर्भ के समय पिक्चर देखती हैं, क्लबों में जाती हैं, डांस करती हैं, नाच गाना ही भाता है, इसलिए पेट से नचनहारा ही पैदा होता है।

–योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अन्यों के हाथों मरने पर तुझे मिलेगी अधोगति। अतः तर्क–वितर्क में न पड़कर शास्त्रों में श्रद्धा रखो। शास्त्रीय विधान की हँसी मत बनाओ। शास्त्रों को पढ़ोगे तो सुसंस्कारी बनोगे। अतः पिता की भूमिका पिता अदा करे व माता की भूमिका माता निभायें। अधिक योगदान माता का चाहिये। माता तो भगवान का दूसरा नाम है।

"कौन कहता है कि हमने भगवान नहीं देखा, अरे तूने अपनी माँ तो देखी है, फिर झूठ क्यों बोलता है ?

–महात्मा गाँधी

अतः बुनियाद पक्की करने के लिए माता को गर्भ से ही सन्तान को सुसंस्कारी शिक्षा देनी चाहिये।

–क्रमशः

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्र चिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान स पण्डितः।।

–महाभारत

जो केवल पढ़ता, पढ़ाता है और शास्त्र के बारे में चिन्तन करता रहता है वह तो व्यसनी और मूर्ख है, दरअसल जो इन सब पर अमल करता है, वही पण्डित है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था

निष्काम कर्म

निष्काम कर्म का अर्थ क्या है ? आजकल बहुत से लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि कर्म इस प्रकार किया जाय, जिससे मन को हर्ष–विषाद स्पर्श न कर सके। यदि यही निष्काम कर्म का सच्चा अर्थ हो, तब तो पशुओं को निष्काम कर्मी कहा जा सकता है। कुछ पशु अपने बच्चों को ही निगल जाते है, और ऐसा करने में उन्हें कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं होता। डाकू अन्य लोगों का सब माल छीनकर उनका सर्वनाश कर देते है, और यदि वे पर्याप्त कठोर होकर दुःख–सुख की परवाह न करें, तो उन्हें भी फिर निष्काम कर्मी कहना पड़ेगा। यदि निष्काम कर्म का अर्थ ऐसा ही हो, तब तो क्रूर, पाषाणहृदय, नीचतम अपराधी भी निष्काम कर्मियों में गिना जा सकता है। दीवार को सुख–दुःख का अनुभव नहीं होता, पत्थर में सुख–दुःख की भावना नहीं होती, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे निष्काम कर्मी है। यदि निष्काम कर्म उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त किया जाय, तब तो वह दुष्टों के हाथों में एक प्रबल अस्त्र बन जायगा। वे तरह–तरह के बुरे कर्म करते जायेंगे और कहेंगे कि हम तो बिना किसी कामना के ये सब काम कर रहे है। इसलिए यदि निष्काम कर्म का यही अर्थ हो, तब तो हम कहेंगे कि गीता में एक बड़े ही भयानक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह अर्थ निश्चित रूप से नहीं हो सकता। फिर, यदि हम गीता के उपदेश से सम्बद्ध व्यक्तियों के जीवन को देखें, तो वह भिन्न ही प्रकार का मालूम होगा। अर्जुन ने युद्ध में भीष्म और द्रोण का संहार किया, और साथ ही उसने अपनी इच्छाओं, स्वार्थ एवं निम्न प्रकृति का भी लाखों बार बलिदान किया।

गीता कर्मयोग की शिक्षा देती है। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के कर्मयोग में क्षुद्र अहंभाव की चेतना नहीं रह जाती। जब योगयुक्त होकर कार्य किया जाता है, तब मैं यह–यह कर रहा हूँ–यह ध्यान ही नहीं रहता। पाश्चात्यों की समझ में यह बात नहीं आती। वे कहते हैं कि यदि अहंभाव न रहे, यदि अहं का नाश हो जाय, तो फिर किसी मनुष्य के लिए कार्य कर सकना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? पर जो अपने को सम्पूर्णतः भूलकर एकाग्र चित्त से कार्य करता है, उसका कार्य निश्चय ही अप्रतिम रूप से अच्छा होता है, और इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति ने अपने जीवन में किया होगा। हम अनेक कार्य अचेतन होकर करते रहते है, जैसे आहार को पचाना आदि, कुछ कार्य चेतन होकर करते हैं, तथा अनेक कार्य ऐसे भी होते है, जो मानो समाधि–अवस्था में मग्न होकर सम्पन्न होते हैं, जब हमें अपने क्षुद्र अहं का बोध नहीं रहता। यदि चित्रकार अपने को भूलकर चित्र बनाने में ही पूर्ण रूप से लीन हो जाय, तो उसका चित्र एक महान् कृति होगा। एक अच्छा रसोइया भोजन बनाने के समय अपना सब कुछ उसमें लगा देता है, उस समय वह उसके लिए वह अन्य सब कुछ भूल जाता है। परन्तु ये लोग इस प्रकार केवल उसी एक कार्य को अच्छी तरह से कर सकते है, जिसके लिए वे अभ्यस्त होते हैं। गीता की शिक्षा है कि सभी कार्यों को इसी तरह पूर्णता के साथ करना चाहिए। जो योग के द्वारा प्रभु से एकरूप हो गया है, वह अपने सभी कार्यों को इसी एकाग्रता के साथ करता है और अपने स्वार्थ की कुछ भी चाह नहीं रखता। इस प्रकार किये हुए कर्म द्वारा संसार की भलाई ही होती है, उससे किसी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। जो इस प्रकार कर्म करते है, वे अपने लिए कभी कुछ नहीं करते।

श्री रामलाल प्रभवे नमः

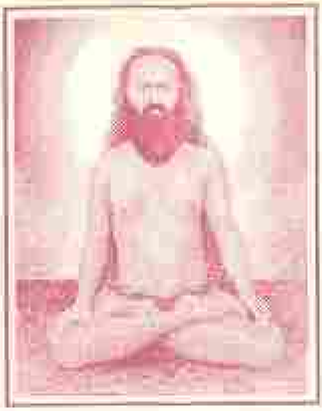

श्रीचन्द्रमोहन गुरुवे नमः

योग-महामेला-आयोजन

प्रत्येक वर्ष की भांति शुक्रवार, चैत्र शुक्ल नवमी संवत् २०६० तदनुसार ११ अप्रैल २००३ को अहैतुकी कृपाओं के सागर कृपानिधान महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का परमपावन जन्मोत्सव योग महामेला के रूप में श्री सिद्धगुफा, संवाईधाम पर मनाया जायेगा। इस विशाल आयोजन में सुदूर स्थलों से आये हजारों गुरुभाई बहिन सम्मिलित होकर महाप्रभुजी के प्रति अपने श्रद्धासुमन अर्पित करते हैं। कार्यक्रम और व्यवस्था की दृष्टि से चूंकि यह आयोजन वृहद् स्तर पर होता है, अतः व्यवस्थायें सुनिश्चित करना आवश्यक हो जाता है। इस संदर्भ में आपके सुझाव, व्यवस्था को और उन्नत बनाने के लिए, निश्चित ही अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

अतः सभी गुरुभाई बहिनों से आग्रह है कि वे जन्मोत्सव योग महामेला के आयोजन को अधिक भव्य बनाने के लिए अपने सुझाव या तो डाक द्वारा या फिर व्यक्तिगत रूप से योग प्रशिक्षण केन्द्र, श्री सिद्धगुफा, सवाई (एत्मादपुर) आकर आचार्य श्री दातालाल ब्रह्मचारीजी या संचालक/संरक्षक श्री सोमदत्तजी शर्मा से सम्पर्क कर दे सकते हैं। आपके सुझाव हमारे लिए मूल्यवान होंगे और हमें उनकी प्रतीक्षा रहेगी।

निवेदक :

योग-महामेला-आयोजक समिति

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER
BOOK-POST

श्री ....

Jaya Karan Agrawal, Khoradia Bhawan, Lower Rajwari Road, JHARIA (Jh.K.) 828 111

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्।।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

(श्रीमद्भागवत् १०/३३/३०-३१)

अर्थात्, मनुष्य को भगवान तथा उनके द्वारा शक्ति प्रदत्त सेवकों के उपदेशों का मात्र पालन करना चाहिये। उनके उपदेश हमारे लिए अच्छे हैं और कोई भी बुद्धिमान पुरुष बताई गई विधि से उनको कार्यान्वित करेगा। फिर भी मनुष्य को सचेष्ट रहना चाहिये कि वह उनके कार्यों का अनुकरण न करे। उसे शिवजी के अनुकरण में विष नहीं पी लेना चाहिये।

प्रकाशक एवं मुद्रक :– विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326
सम्पादक–आचार्य ब्र० (डा.) दासलाल शर्मा